अद्वैत जगत्

श्री शंकराचार्य द्वादश शताब्दी के उपलक्ष्य में
महेशनगर (हि. प्र.) में आयोजित व्याख्यानमाला में
आचार्य महामण्डलेश्वर श्री १००८ स्वामी महेशानन्द गिरिजी महाराज
के प्रवचनों का संकलन

ॐ
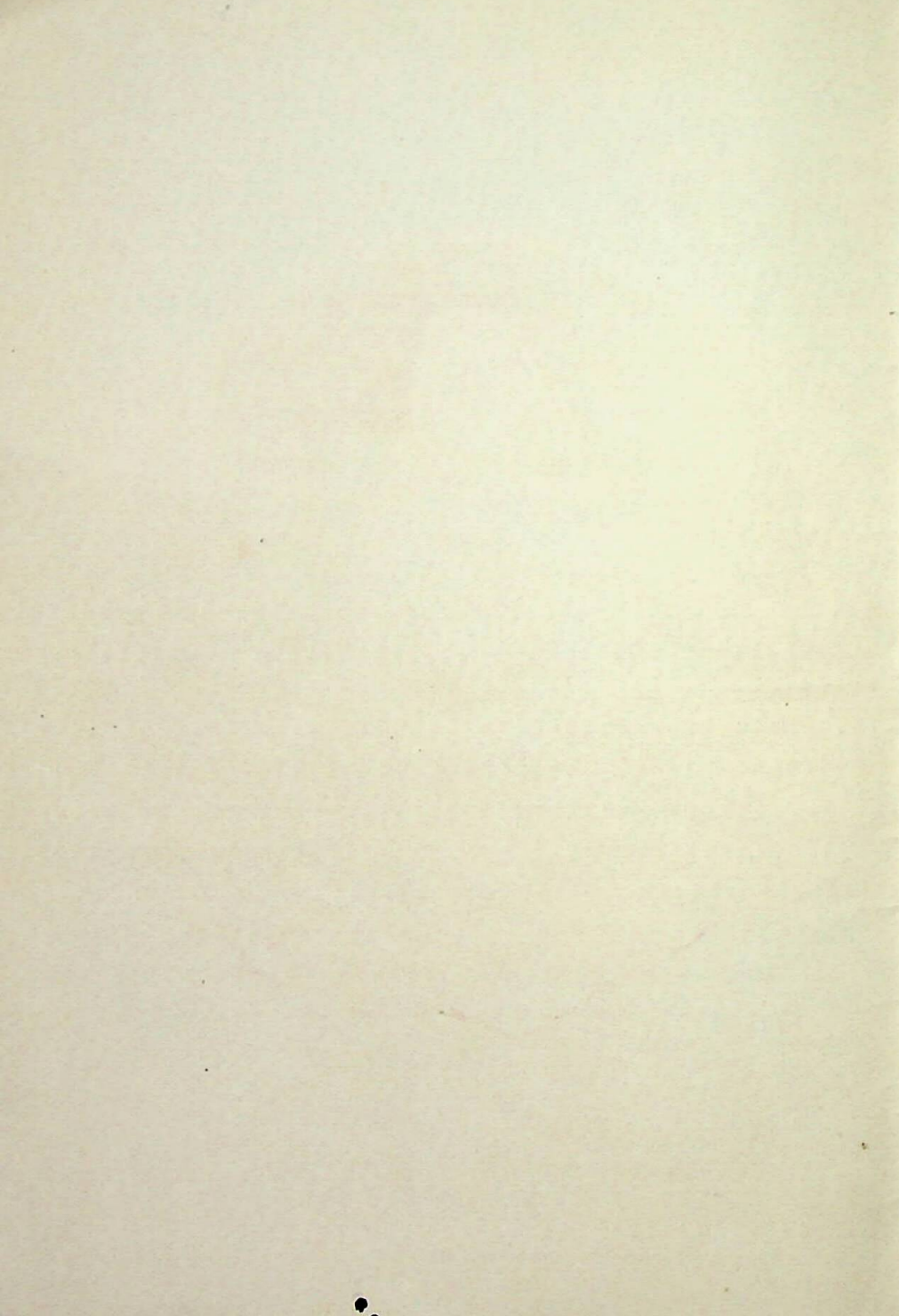
आचार्य श्रीशंकर : भारतीय संस्कृति व मानवता

विष्णुब्रह्मेन्द्रदेवै रजतगिरितटात् प्रार्थितो योऽवतीर्य
शाक्याद्युद्दामकण्ठीरवनखरकराघातसंजातमूर्च्छाम् ।
छन्दोधेनुं यतीन्द्रः प्रकृतिमगमयत् सूक्तिपीयूषवर्षैः
सोऽयं श्रीशंकरार्यो भवदवदहनात् पातु लोकानजस्रम् ॥

आज आप ने 'आचार्य शंकर की भारतीय संस्कृति को देन' और 'आचार्य शंकर तथा मानवतावाद'—इन विषयों पर विद्वानों के विचार सुने । वस्तुतः भारतीय संस्कृति ही मानवतावाद है । हमारे प्राचीन ऋषियों ने जब सनातन धर्म की नींव इस देश में डाली, तो उन्होंने कहीं भी मानवतावाद को छोड़ा नहीं । किसी भी प्रकार का बाड़ा बाँधा नहीं, खेत के चारों तरफ मेड़ लगायी नहीं । इसीलिये संसार में दूसरे धर्म-महजबों का तो नाम अपने प्रवर्तक के अनुसार है, क्राईस्ट ने चलाया तो क्रिश्चियानिटी हुई, मुहम्मद ने चलाया तो मुहम्मदीय धर्म हुआ । ऐसे सनातन धर्म को चलाने वाला कोई व्यक्ति नहीं । यदि पूछा जाये तो पारमार्थिक दृष्टि से कहना होगा ईश्वर ने चलाया । उसी ने वेदों का ज्ञान दिया । स्वयं वेद ही इस बात को कहता है—**'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै'** । वह पहले चतुर्मुखी ब्रह्मा को बनाता है, फिर उसे चारों वेदों का ज्ञान देता है । आगे ब्रह्मा ने उस ज्ञान को अपने मानस पुत्र वसिष्ठादि को दिया और इस प्रकार वह ज्ञान-परम्परा चली । यदि आधुनिक ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो जितने भिन्न-भिन्न वैदिक ऋषि थे, उनके समग्र अनुभव के आधार पर सनातन धर्म का प्रारम्भ हुआ, किसी एक के अनुभव के आधार पर नहीं । उदाहरणार्थ आज के युग में विज्ञान के विषय में यह नहीं कह सकते कि विज्ञान किस देश का है । भिन्न-भिन्न देशों के वैज्ञानिक हैं, वे जिस प्रयोग को करते हैं, जिस नतीजे को पाते हैं, उसको सबके सामने उपस्थित कर देते हैं । उन प्रयोगों को तुम करके

देख लो, यदि जैसा वे कहते हैं, वैसा नतीजा न आवे तो वे अपने विचार बदलने को तैयार हैं। आज का विज्ञान किसी एक देश का, किसी एक काल का, किसी एक व्यक्ति का नहीं, समग्र मानवता का है। सबने उसे बढ़ाया है, सबने उसके बढ़ने में मदद की है, और सबने उससे लाभ उठाया है। इसी प्रकार सनातन धर्म किसी एक देश का, किसी एक काल का, किसी एक व्यक्ति का नहीं। इसके अन्दर तो प्रयोग निर्धारित कर दिये गये हैं। उन प्रयोगों को करके जो-जो चलेगा, वह उस चीज का अनुभव करेगा। प्रायः कह दिया जाता है कि ऋषियों ने मंत्रों को बनाया है। अगर ऋषियों ने मंत्रों को बनाया होता तो एक गायत्री-मंत्र के सात ऋषि कहाँ से हो जाते? बनाने वाला होता तो कोई एक होता। अनुभव करने वाले अवश्य अनेक हो सकते हैं। जैसे चार आदमियों ने लड्डू खाया और चारों ने कहा कि मीठा है। जब चारों कह रहे हैं कि मीठा है, तो एक दूसरे की बात नहीं कह रहे, बल्कि अपना-अपना अनुभव कह रहे हैं। इसी प्रकार जिन मन्त्रों के अनेक ऋषि हैं, जैसे गायत्री, वे भिन्न-भिन्न ऋषियों के अनुभव हैं और उन्होंने परस्पर स्वतन्त्र अनुभव किया है। इसलिये मंत्र प्रकट हुए माने जाते हैं, बनाये हुए नहीं। इसीलिये अनादिकाल से हमारे यहाँ विद्वान् शास्त्र-नियमानुसार आपस में बैठकर अपने अनुभवों का आदान-प्रदान करते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् आरम्भ होती है **'ब्रह्मवादिनो वदन्ति'**—ब्रह्मवादियों के वाद से। परब्रह्म परमात्मतत्त्व के बारे में विचार करने वाले अनेक ऋषि एकत्र होकर आपस में वाद करते हैं। इसी प्रकार अनेक जगह शतपथ ब्राह्मण में व तैत्तिरीय ब्राह्मण में **'ब्रह्मवादिनो वदन्ति'** आता है। कहीं कर्मकाण्डविषयक वेदमंत्र पर विचार हैं, कहीं तत्त्वविषयक वेदमंत्र पर विचार हैं, कहीं परमात्मविषयक विचार हैं। लेकिन आपस में विचार अवश्य हैं। 'भारतीय संस्कृति को आचार्य शंकर की देन' और 'आचार्य शंकर तथा मानवतावाद' का विचार करते समय ध्यान दें कि भारतीय संस्कृति चूँकि मानवतावाद का आधार है इसलिये दोनों विचारों के अन्दर सामंजस्य है। दोनों सर्वथा पृथक् नहीं। हमने अपने देश का नाम भारत रखा। 'भा' का मतलब होता है 'प्रकाश', रोशनी। हिन्दी में भी शब्द चलता है 'प्रभा'। 'प्र' उपसर्ग के साथ 'भा' रोशनी को कहते हैं। 'भा' अर्थात् प्रकाश में रत अर्थात् लत वाला। 'र' और 'ल' आपस में बदल जाते हैं। जब कहते हैं कि इस आदमी

को इसकी लत लगा हुई है तब अर्थ है कि इसको किये बिना यह रह नहीं सकता। इसी प्रकार जो ज्ञान के, प्रकाश के, बिना रह न सके, वही भारत है। संसार में बाकी लोग भोग-परायण हो सकते हैं, भारत कभी भोग-परायण नहीं हो सकता क्योंकि यह हमेशा ज्ञान में रत रहता है। दूसरे लोगों को प्रवृत्त करना पड़ता है ज्ञान के लिये और यहाँ के लोगों को ज्ञान की तरफ जाने से रोकने के लिये प्रयत्न करना पड़ता है। यहाँ लोगों की सहज और स्वाभाविक प्रवृत्ति ज्ञान की तरफ है और यही मानव की विशेषता है। पशु भी क्षणिक सुख, क्षणिक भोग को चाहता है। मनुष्य मनुष्य तभी बनता है, जब क्षणिक भोग को छोड़कर उस भोग और भोग करने वाले के विषय में विचार कर सके। हम लड्डू खाते हैं और पशु भी लड्डू खाता है। हमें लड्डू खाकर मज़ा आता है और पशु को भी लड्डू खाकर मजा आता है। यहाँ तक हममें और पशु में फर्क नहीं। परन्तु लड्डू खाने के बाद हम सोचते हैं कि इस व्यक्ति ने हमको लड्डू खिलाया है, इसके प्रति हमारा कुछ कर्तव्य बन गया और कुछ हमारे ऊपर इसका कर्ज़ हो गया। अथवा खाते हुए ही सोचता है, अरे किसी का अन्न मैं क्यों खा रहा हूँ। ऐसा विचार पशु में नहीं होता। इसलिये आचार्य शंकर मनुष्य के लिए 'नर' शब्द का प्रयोग करते हैं :

"जन्तूनां नरजन्म दुर्लभमतः पुंस्त्वं ततो विप्रता।
तस्माद् वैदिकधर्ममार्गपरता विद्वत्त्वमस्मात्परम्॥"

(विवेकचूडामणि—श्लोक २)

'जन्' अर्थात् जनन; निरन्तर पैदा होना ही जिनका स्वभाव है, उनको जन्तु कहते हैं। जीवमात्र का स्वभाव है पैदा होना, मरना और मरकर फिर पैदा होना। भगवान् ने गीता में भी यही बतलाया है :

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।"

वेद कहता है कि तीन प्रकारके लोग होते हैं। एक भोग को उद्देश्य रखकर कर्म करते हैं। वे दक्षिणायन के रास्ते स्वर्ग लोक को जाते हैं। दूसरे परमात्मा की उपासना को उद्देश्य रखकर कर्म करते हैं। वे उत्तरायण मार्ग से ब्रह्मलोक

को जाते हैं, वैकुण्ठादि लोकों को जाते हैं। तीसरे न कर्म में लगते हैं अर्थात् निरन्तर न शुभ कर्म करते है, और न उपासना में लगते हैं अर्थात् न भजन में लगते हैं। उनकी तीसरी गति हैं : **"जायस्व म्रियस्व।"** उनकी गति है बार-बार पैदा होना और बार-बार मरना, जैसे कीट-पतंगादि। आचार्य शंकर ने जन्तुत्व से विलग होने को मानवतावाद का आधार बतलाया है :

"लब्ध्वा कथंचिन्नरजन्म दुर्लभं तत्रापि पुस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम्"

(विवेकचूडामणि—श्लोक४)

जन्मने-मरने वालों में से कोई एक निकलता है, जिसको दुर्लभ नरजन्म मिलता है। नर का अर्थ क्या होता है ? विषयों में रमण न करने वाला। कुछ किया और करते ही हमको उसका फलभोग मिल जाये, इस इच्छा से सभी जन्तु, सभी प्राणी कर्म करते हैं। पशु-पक्षी भी कर्म करते हैं, मनुष्य भी कर्म करता है इसलिये कि अभी किया और तुरन्त फल मिल जाये।

सारी भोजन की व्यवस्था वर्तमान काल में गड़बड़ा क्यों रही है ? गेहूँ में गेहूँ का स्वाद नहीं, चावल में चावल का स्वाद नहीं, घी में घी का स्वाद नहीं, दूध में दूध का स्वाद नहीं। क्योंकि हम सब चाहते हैं, खूब मात्रा में गेहूँ लगे, खूब मात्रा में सब्ज़ी लगे, खूब मात्रा में दूध पैदा होवे और जल्दी से उसको बेचकर धन कमा लिया जाये। वह दूध क्या लाभ करेगा, वह गेहूँ क्या लाभ करेगा, क्या हानि करेगा ?— इसका विचार नहीं। इसलिये सब लोग लगे हुए हैं ऐसी चीज़ पैदा करने में जिसकी मात्रा ज्यादा होवे, लाभ तुरन्त होवे। गाय की नस्ल भारतवर्ष में खतम न हो जाये, यह सन्देह होने लग गया है। गाय किसको कहते हैं ? जिसके गले में झालर, सास्ना, पूरी होती हैं, उसको गाय कहते हैं। अब विदेशों से लाया जाता है कोई पशु, जिसके सास्ना का नाम भी नहीं है, सींग का नाम नहीं है और उसी के दूध को गो-दूग्ध कहकर बेचा जाता है जिससे जल्दी से जल्दी धन की प्राप्ति हो जाये। इसी प्रकार सब चीज़ों में समझ लेना। बड़ी उमर वालों को याद होगा, पहले दूध पकाते थे कण्डों को जलाकर। घण्टों दूध उबलता था। अब उसकी जगह शहरों में गैस आ गयी है। उस पर दूध चढ़ाओ दस मिनट में उबल जायेगा, पर उसमें स्वाद कहाँ से आयेगा ? हर माँ

की शिकायत है, बच्चे दूध पीते नहीं। हम कहते हैं 'यदि हम भी अभी बच्चे होते तो आजकल का दूध नहीं पीते।' निःस्वाद होने से ही दूध में विभिन्न सुगन्ध व स्वाद की अन्यान्य वस्तुएँ डालनी आवश्यक हो जाती हैं। इस सब का मूल है तात्कालिक लाभ के लिये ही कार्य करना, विवेकपूर्वक कार्य न करना। ऐसा करने वाला पशु की तरह है, जन्तु है। जो कर्म करे और फल की इच्छा न करे, 'मुझे अच्छे से अच्छा काम करना है, फल कुछ भी होवे', ऐसा सोचे, वही मनुष्य है।

एक बहुत बड़े महात्मा थे। बड़े त्यागी थे। धीरे-धीरे बहुत से लोग उनके पास इकट्ठे हो गये। गृहस्थ शिष्य भी रहने लगे, महात्मा शिष्य भी रहने लगे। वे साक्षात् किसी को डाँटते नहीं थे। दूसरे लोग, जो उनके साथ थे, जरूर डाँटते-डपटते थे। परन्तु जब लोग देखें कि वे तो कुछ कहते नहीं हैं, तो उनका जरा हौसला बढ़ जाये। बढ़ती अव्यवस्था देखकर कुछ लोग उनके पास गये और उनसे शिकायत की 'स्वामी जी, आप कुछ कहते नहीं। सारी व्यवस्था बिगड़ रही है।' उन्होंने कहा, 'मैं कह तो देता हूँ; प्रवचन में बात आती है तो कह देता हूँ कि क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये।' वे बोले, 'ऐसे नहीं होता है। जरा डाँट के कहना पड़ता है, क्रोध करना पड़ता है।' उन्होंने कहा 'क्या शिष्यों को सुधारने के लिए में अपने आप को बिगाड़ लूँ? क्रोध करना, यही तो बिगड़ना है। तुम कह रहे हो 'शिष्य तब सुधरेंगे जब आप बिगड़ेंगे।' यह तो मैं करने वाला नहीं हूँ।' ठीक इसी प्रकार मुझे जो काम करना है, वह केवल मुझे कोई व्यक्ति पैसा ज्यादा देगा, इसलिये मैं बिगड़ा हुआ कर लूँ, यह नहीं हो सकता। मुझे तो वह कार्य पूर्ण अच्छी तरह से करना है, जितना अच्छा मैं कर सकूँ। फल का विचार नहीं करना है।

वेद ने नर का कर्त्तव्य बताया :

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे"॥

गीता में भी भगवान् कृष्ण ने कहा

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"

'हे अर्जुन ! तू नर का अवतार है। जो भी नर है, उसका कर्म करने में अधिकार है। फल देने वाला कोई दूसरा है। उसका विचार करना तेरा काम नहीं है।' यही बात वेद ने कही। नर वे हैं, जिनमें कर्म लिप्त नहीं होता और कर्म लिप्त न होने का उपाय ही यह है कि कर्मफल की इच्छा मत करो। साधारण आदमी काम करते हुए फल की इच्छा रखता है। केवल कर्म करने की इच्छा रखो, उसका जो फल है, उसकी इच्छा मत करो। बहुत से लोग कहते हैं 'महाराज ! फल की इच्छा न करें तो फिर जीवन का फायदा ही क्या है? इतना कमाते हैं तो कोई भोग भोगने के लिये ही तो कमाते हैं।' किन्तु वैदिक दृष्टि विपरीत है। वेद कहता है जल्दी मरने की इच्छा मत करो, पूर्ण आयु तक जीने की इच्छा रखो। अर्थात् 'परमेश्वर ने जितनी आयु दी है, उसे बिना फल की इच्छा किये हुए कर्म करते हुए मैं जिऊँगा' ऐसा निश्चय रखो। जो विषयों में रमण नहीं करता है, वह नर है।

बड़ा सुन्दर विचार उठा था कि आचार्य शंकर ने नैतिकता बतायी कि नहीं? उन्होंने नैतिकता का बड़ा विस्तृत विवेचन किया है। उसको संक्षेप में उनके शिष्य सुरेश्वराचार्य ने लिखा है :

"अमानित्वादिनिष्ठो यो यश्चाद्वेष्ट्रादिसाधनः।
ज्ञानमुत्पद्यते तस्य न बहिर्मुखचेतसः ॥"

अर्थात् अमानित्वादि और अद्वेष्दृत्वादि धर्मों का तत्परता से अभ्यास करने वाला ही परमात्मज्ञान पा सकता है, बहिर्मुख चित्तवाला व्यक्ति नहीं।

'अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्' एवं **'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च'**— इन गीता के प्रसंगों का व्याख्यान करते हुए श्रीशंकराचार्यजी द्वारा बड़े विस्तार से मानवतावाद का, नैतिक जीवन का निरूपण किया गया है। केवल कल्पना पर कुछ नहीं छोड़ा गया है। विस्तृत विवेचन द्वारा बताया गया है। आचार्य शंकर की शैली थी कि विषय का अच्छी तरह रस-भस्म की तरह परिपाक कर दिया जाये। उन्होंने कहा है कि सारी नैतिकता का आधार है— एषणाओं का त्याग। इसलिये बृहदारण्यक उपनिषद् में कह दिया है कि सारे नीतिशास्त्र का एकमात्र आधार है— इच्छाओं को छोड़ना। इच्छा कहाँ से उत्पन्न

होती है ? द्वैतभाव से उत्पन्न होती है । कुछ है जो मेरा नहीं तभी उसे मैं चाहूँगा । कोई यह नहीं चाहता कि मेरी अलमारी में पड़ी हुई पचास साड़ियों में से एक साड़ी मेरी हो जाये । वह तो पहले ही मेरी है । जो मेरी साड़ी नहीं है, वह मेरी हो जाये यह इच्छा होती है । इसलिये उन्होंने महत्त्वपूर्ण सूत्र बतला दिया— जहाँ-जहाँ द्वैत है, अविद्या है, वहाँ-वहाँ कामना है, एषणा है । एषणा जहाँ-जहाँ है, वहाँ-वहाँ वह मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करती है ।

उनका यह नीतिसिद्धान्त मानव मात्र के लिये है । कर्म को छोड़ दो, कामना और अज्ञान बैठा रहे— ऐसा मत करना, अथवा कामना को छोड़ दो और अज्ञान बैठा रहे— ऐसा भी नहीं करना । कारण के नाश से कार्य का नाश करना है । इसलिये जब तक तुम्हें द्वैत का अनुभव होता है, जब तक तुम द्वैत को हटा नहीं सके तब तक शुभ कामना व कर्म करो, तब तक कामनाएँ और कर्म नहीं छोड़ना । जब तुम्हारा द्वैतभाव हट जायेगा, तब **'किमर्थं कस्य कामाय शरीमनुसंज्वरेत्'** । कोई प्रयोजन नहीं रहने से अपने आप कामना और कर्म की निवृत्ति हो जायेगी । इस प्रकार की जो बात उन्होंने कही, यह शुद्ध मानवतावाद है । इसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, हिन्दुस्तानी, पाकिस्तानी, अमेरिकन, यूरोपियन आदि किसी भेद से कोई अन्तर नहीं आता । सबके लिये यह सिद्धान्त उन्होंने प्रतिपादित किया ।

आचार्य शंकर ने भारतीय संस्कृति को जो देन दी, वह उन्होंने भारतीय संस्कृति के माध्यम से सारी मानवता को दी । मानव कौन, मनुष्य किसको कहना चाहिये ? जो विषयों की लत अपने में न लगा लेवे ।

हम लोग आचार्य शंकर की बारहसौवीं जयंती मना रहे हैं । इसका मूल उद्देश्य है कि हमारे अन्दर एक उद्दाम आत्मशक्ति का विकास हो । बाकी सब सहारों को छोड़ अपने अन्दर स्थित जो परब्रह्म परमात्मदेव देवाधिदेव महादेव हैं, उनको समझ कर एषणात्रय का त्याग कर पूर्ण शक्ति लगाकर काम करें, मानवता का विकास करें । सभी विकारों को हटाकर नैतिकता से काम करें । पूर्ण नैतिक जीवन से जो उद्दाम शक्ति आयेगी, उसी से राष्ट्र-निर्माण होगा और वही पूर्णता ले आयेगी । आप सब लोग उसी से आगे बढ़ें, यही हमारा विचार है, इसी के लिये महात्मा लोग सदा वेदान्तप्रचार में तत्पर रहते हैं ।

पुरुषार्थ

कल बतलाना प्रारम्भ किया था—'जन्तूनां नरजन्म दुर्लभम्'। प्राणियों में नरजन्म दुर्लभ है। 'नर' अर्थात् जो विषयों की लत को छोड़ देता है और परमार्थ ज्ञान की लत लगा लेता है। उससे आगे आचार्य शंकर कहते हैं— 'अतः पुंस्त्वम्'।

नरजन्म भी मिल गया, तो उसमें पुंस्त्व (पौरुष) पाना कठिन है। जो पुरुषार्थ करता है, उसे पुमान् कहते हैं। प्रायः जिन व्यक्तियों को संसार के विषयों की कामना नहीं होती, वे आगे पुरुषार्थ करते नहीं। 'हमको दुनिया में कुछ लेना ही नहीं, तो हम आगे कुछ क्यों करें?' प्रायः यह वाक्य मनुष्य को निकम्मा बना देता है। बौद्ध काल में यही परिस्थिति आ गई थी। बुद्धदेव ने अपनी पत्नी और नव-जात शिशु को छोड़कर संन्यास ले लिया। वे महामानव थे। उन्होंने जो कुछ किया वह उनके लिये ठीक था। उनके लिये उसके औचित्य पर विचार नहीं करना है। परन्तु उसका असर क्या हुआ? इसका विचार करते हैं। हजारों साधा-रण व्यक्ति उत्कट वैराग्यादि के बिना ही सामान्य निमित्तों से उत्तेजित होकर संन्यास में प्रवेश करने लग गये। शास्त्रों की आज्ञा है, धर्मपत्नी इत्यादि की आज्ञा लेकर के ही गृहस्थ द्वारा संन्यास लिया जा सकता है। यह वेद का विधान है। इस वेद के विधान की तरफ लोगों का ध्यान रहा नहीं। घर में थोडा-सा मतभेद हुआ और संन्यास ले लिया। उस वैराग्य के अन्दर कोई तेजस्विता तो थी नहीं। अतः ऐसे लोग जब संन्यास में प्रवेश करने लगे तो धीरे-धीरे संन्यास-सम्प्रदाय ही दूषित हो गया। स्वयं बुद्धदेव के समय में ही यह समस्या हो गई थी।

बुद्धदेव ने देखा कि धीरे-धीरे उनका जो शिष्य समुदाय है, उसके पास बहुत सामान होने लगा है। वे लोग गाड़ियों में बड़े-बड़े सामानों को रखकर चलने लगे। बुद्धदेव ने विचार किया, 'अरे यह क्या गड़बड़ हो गया!' यह उन्हीं के ग्रन्थों में बताया है। उन्होंने एक दिन सारे संघ को आहूत किया। सब शिष्यों को बुलाया और कहा, 'आज से मैं यह नियम बनाता हूँ कि कोई अपना सामान गाड़ी में नहीं रखेगा। जितना सामान अपने ऊपर लेकर चल सकता है, उतना

ही सामान रखेगा।' दो-तीन साल बीत गये। बुद्धदेव ने देखा कि अब धीरे-धीरे जो शिष्य पहले एक कम्बल लेकर चलते थे, वे बड़ा भारी गट्ठर सिर पर लेकर चलने लगे। आनन्द से कहा 'अरे आनन्द, यह क्या हो रहा है ? ये लोग इतना सामान कैसे ढोने लग गये हैं ?' आनन्द ने कहा 'महाराज ! थोड़ा-थोड़ा बढाने से बोझ ढोने का अभ्यास हो गया।' बुद्धदेव थे महामानव। उन्होंने कहा कि इसका भी कोई नियमन करना पड़ेगा। उन दिनों सर्दी थी। वे अपनी कुटिया के बाहर एक कम्बल ओढ़कर खुले में सो गये। बारह बजे ठण्ड लगने लगी, एक कम्बल और ओढ़ लिया। दो बजे ठण्ड और लगी तो तीसरा कम्बल ओढ़ लिया। चार बजे उठने का समय हो गया। अगले दिन उन्होंने संघ को फिर बुलाया और कहा 'आज मैं नियमन करता हूँ कि तीन से अधिक वस्त्र कोई नहीं रखेगा। तीन कम्बल से ज्यादा कोई नहीं लेगा।' उन्होंने प्रयोग करके देख लिया था कि इतने में रात निकल जाती है। यहाँ तक तो स्थिति हुई बुद्धदेव के जीवनकाल की। अब आगे धीरे-धीरे हजार-आठ सौ साल में क्या परिस्थिति बनी, वह ऐतिहासिक लोग जानते हैं। अत्यन्त भोगपरायण लोग बौद्ध संघ में प्रवेश कर चुके थे। राजाओं के ऊपर प्रभाव डालकर अपना सारा कार्य करते थे।

आचार्य शंकर ने ऐसी समस्या न होवे, इसके लिये बड़ा ध्यान रखा। बिना माता की आज्ञा के उन्होंने संन्यास नहीं ग्रहण किया। चाहे जितनी तीव्र इच्छा थी, लेकिन माता की आज्ञा लेकर ही किया। उस समय में वैदिक धर्म की बड़ी विचित्र स्थिति थी। जो कुछ भी भोगपरायण और संसार की तरफ जाने वाले लोग थे, वे अन्य सम्प्रदायों में जा चुके थे, मतान्तर ग्रहण कर चुके थे। परन्तु जो मानने वाले थे, वे अत्यन्त दृढविश्वासी थे।

आचार्य शंकर को वेदव्यास ने कहा 'इस समय वैदिक धर्म के आप और आचार्य कुमारिल भट्ट दो ही प्रधान स्तम्भ हैं। आप दोनों आपस में मिल जावें तो काम बिल्कुल ठीक हो जायेगा। इसलिये आप जायें, कुमारिल भट्ट से मिलें।' वेदव्यास की बात मानकर आचार्य चले। भट्टजी का पता लगाया। कुमारिल भट्ट उस समय प्रयाग के पास झूँसी में थे। उसका प्राचीन नाम प्रतिष्ठानपुर था, आजकल झूँसी कहते हैं। जब वहाँ पहुँचे तो सुना कि कुमारिल भट्ट तुषानल में अपने आप को जला रहे हैं। तुषानल जानते हो क्या होता है ? जब धान में

से चावल निकल जाता है तो जो भूसी बचती है, उसको संस्कृत में तुष कहते हैं। कोई बड़ा भारी पाप किया जाता है तो उसका प्रायश्चित्त करने के लिये उसमें बैठकर जलने का विधान है। वह बहुत धीरे-धीरे जलती है। उस धीमी आँच में लम्बे से लम्बे समय तक मनुष्य प्रायश्चित्त के लिये जले। आचार्य शंकर को बड़ा आश्चर्य हुआ। कुमारिल् भट्ट, जिनकी प्रशंसा साक्षात् वेदव्यास ने की, उनसे ऐसी क्या गलती हो गयी कि प्रायश्चित्त करने के लिये तुषानल में जल रहे हैं? वे गंगा के किनारे पहुँचे, जहाँ कुमारिल भट्ट तुषानल में बैठे हुए बड़ी शान्ति से जल रहे थे। चारों तरफ शिष्य लोग तरह तरह के प्रश्न कर रहे थे और वे उनका समाधान दे रहे थे। यह है जीवन के प्रति निष्ठा। तुषानल में जलने जा रहे हैं, कष्ट हो रहा है, मरना निश्चित है, परन्तु ऐसे में भी जीवन के प्रति आस्था है : शिष्यों की समस्याओं का समाधान कर रहे हैं। आँख बन्द करके समाधि लगाकर नहीं बैठे हैं। सामान्यतः मरणपीडा से तड़पते व्यक्ति से कार्य के विषय में पूछा जाये तो कहता है 'तुम्हारी जो मर्जी हो, सो करना।' वर्तमान काल में घर-घर में क्या समस्या है? 'मेरे रहते लड़के साथ रहें, बाद में चाहे झगड़ें। मेरी आँख के सामने झगड़ा न हो।' यह दृष्टि लोगों में है। बड़े-बड़े नेता भी यही सोचते हैं, मेरी जिन्दगी निकल जाये, मेरे हाथ से यह कार्य न हो। चाहे देश के टुकड़े हो जायें, मेरे सामने न हों।' जो इससे भी निकृष्ट हैं वे सोचते हैं 'मैं कुर्सी पर हूँ तब तक न हो, बाद में हो जाये।' किन्तु भट्टपाद उस भीषण स्थिति में भी उपदेश से विरत न हुए, अपने अध्यापक-धर्म पर दृढ रहे।

आचार्य शंकर का नाम जैसे ही सुना, सब लोगों ने रास्ता छोड़ दिया। वे पास पहुँचे और बोले 'भगवन् ! आप क्या कर रहे हैं?' कुमारिल भट्ट बोले, 'भाई ! जीवन में मैंने दो पाप किये हैं। किसी भी सिद्धान्त का ठीक प्रकार से खण्डन तब तक नहीं हो सकता, जब तक उस सिद्धान्त का भली प्रकार अध्ययन न किया जाये। जिस बात को समझें नहीं, उस बात को काटेंगे कैसे?' आजकल सब जगह यही समस्या है। संसद के अन्दर बड़े-बड़े विरोधी नेता होते हैं। उनसे पूछो कि तुमने बजट पढ़कर समझ तो लिया है जो तुम बजट को खराब बतला रहे हो? कहते हैं 'मुझे पढ़ने की फुर्सत कहाँ है।' ऐसे ही पूछो, 'किसी दूसरी पार्टी का इलैक्शन मैनिफैस्टो तो पढ़ा है?' बहुत से नेता कान में कहेंगे 'हमने

अपनी ही पार्टी का नहीं पढ़ा, दूसरी पार्टी का क्या पढ़ेंगे ?' इसीलिये हम लोगों के खंडन-मंडन की कोई कीमत नहीं। बचपने की तरह बातें करते हैं। जैसे फाल्गुन के महीने में छोटे-छोटे बच्चे माँ-बहिन की गालियाँ एक दूसरे को निकालते हैं, उनको अर्थ-बोध तो है नहीं। ठीक ऐसा ही हाल होता है। किन्तु उचित प्रक्रिया क्या है ? यह भट्ट जी के जीवन से पता चलता है। कुमारिल भट्ट ने कहा 'बौद्धों का खंडन करने के लिये बौद्ध सिद्धान्तों का अध्ययन किया। बाद में सनातन धर्म की रक्षा के लिये उनसे शास्त्रार्थ कर उनको ही मैंने अपमानित किया यानी शास्त्रार्थ में हराया। इस प्रकार मुझसे गुरु-द्रोह का पाप हुआ।' विचार करो, कोई अपने स्वार्थ के लिये नहीं, धर्म की रक्षा के लिये किया उन्होंने; अपने गुरुओं का विरोध किया, परन्तु किया तो सही ! वे आगे बोले 'यह मेरी एक भूल हुई। दूसरी भूल शास्त्र के प्रामाण्य को सर्वथा पुष्ट करने के लिये, वेद की अपौरुषेयता को सिद्ध करने के लिये मैंने ईश्वर को अस्वीकार किया। इन दो पापों के फलस्वरूप जो दोष लगा, उसका प्रायश्चित्त करने के लिये तुषानल में जल रहा हूँ आचार्य शंकर ने कहा, 'अरे ये दोष नहीं है। मैं अभी भी कमण्डलु के जल से तुमको ठीक कर देता हूँ। यह बच्चों का सा प्रायश्चित्त कर रहे हैं। यह आपके लिये आवश्यक नहीं है।'

आचार्य शंकर बार-बार एक बात पर जोर देते हैं कामना से प्रवृत्त होकर जो कर्म किया जाता है, वह बन्धन का कारण होता है। भट्ट जी ने किसी संसार के वैभव, ऐश्वर्य, धन के लिये तो किया नहीं था, इसलिये कोई दोष नहीं था। कुमारिल भट्ट ने कहा, 'मैं भी इस बात को जानता हूँ। परन्तु मैं बुद्ध की गलती सनातन धर्म में नहीं लाना चाहता हूँ। बुद्ध ने महामानव होने के नाते वैराग्य के कारण संन्यास लिया। परन्तु उनके देखा-देखी सारा समाज बिगड़ गया।इसी प्रकार आज यदि मैं यह प्रायश्चित्त नहीं करूँगा तो प्रवृत्ति काल में लोग अपने स्वार्थ के पीछे गुरु की आज्ञा नहीं मानेंगे। गुरु की अवमानना करेंगे, और कहेंगे 'अरे ! कुमारिल भट्ट ने भी तो ऐसा किया था, इसमें बुराई क्या है ?' इसका प्रवेश अपने सनातन धर्म में न हो जाये, इसलिये मुझे यह प्रायश्चित्त करने दें।' यह है पुरुषकार। अपना कोई स्वार्थ नहीं, विषयों की कोई कामना नहीं, फिर भी प्रबल पुरुषार्थ धर्म के लिये करना, यही पुरुषकार है।

पुरुषकार वही कर सकता है जो पहले अपने को स्वतंत्र बना ले । जब तक मनुष्य कामना के परतंत्र है, तब तक कामनाओं के, जो चलाने वाले को अनात्म-पदार्थ हैं, उनके आधीन बना रहता है, और जो परतंत्र व्यक्ति है, वह कभी स्वतंत्र कार्य नहीं कर सकता । हमारे अन्दर जो चेतन तत्त्व है, वह तो स्वतंत्र है और जो हमारा अनात्म-संसार है, वह सारा का सारा परतंत्र है । इसलिये जितना-जितना अनात्मा से अपने को अलग करेंगे, उतनी-उतनी अपनी स्वतंत्रता बढ़ेगी । हमारी वर्तमान काल की सबसे बड़ी भूल यही है कि मन की परतंत्रता का नाम हमने स्वतंत्रता दे दिया है । हमारे मन का काम होवे तो हम उसे स्वतंत्रता समझते हैं । हम मन से अपने को अलग करके नहीं समझ पाते । इसलिये जिसको हम स्वतं-त्रता कहते हैं, वह मन की परतंत्रता है, मन की अधीनता है । इसलिये आचार्य शंकर ने कहा **'पुंस्त्वम्'** । मन के नियन्त्रण से छूटना होगा । स्वतंत्र होकर कार्य करो, परतंत्र होकर नहीं । जब स्वतंत्र होकर कार्य करोगे तभी जीवन में धर्म संपुष्ट हो पायेगा अन्यथा नहीं । जितनी समस्याएँ वर्णाश्रम-धर्म पर आती हैं, उन सबका रहस्य क्या है ? 'यदि मैं अपने वर्णधर्म पर रहता हूँ, तो मेरे मन की बातें पूरी नहीं होती ।' सारे प्रश्नों का भेद यही है कि यदि शास्त्र को मैं मानता हूँ, तो मेरे मन की बात पूरी नहीं होती । एक बार यदि अपनी स्वतंत्रता मिल गयी तो मन की बात क्यों पूरी की जायेगी ? सबसे बड़ा दुश्मन तो यह मन ही है । आचार्य शंकर बार-बार इस बात पर जोर देते हैं कि मन महान् शत्रु है । इसलिये मन की बात पूरी न करने में अपने आप को लगाकर रखना उचित है ।

आचार्य शंकर की बड़ी इच्छा थी कि उनके ग्रन्थ पर सुरेश्वराचार्य वार्तिक लिखें । इसके लिये उन्होंने बड़ा प्रयत्न किया था । जब लिखने का समय आया तो उनके शिष्यों ने विरोध किया । चाहते तो कह सकते थे 'मैं चाहता हूँ, यह लिखेगा ।' लेकिन ऐसा नहीं कहा । 'अधिकतर शिष्य इसको नहीं चाहते हैं, तो यह कार्य, चाहे मेरा मन कह रहा था, पर नहीं करूँगा ।' यह उन्होंने निर्णय किया । सुरेश्वराचार्य को उन्होंने मना कर दिया । आज प्रजातन्त्रवाद का सिद्धान्त प्रचलित है, जिसमें सबकी राय लेकर चलना चाहिये । परन्तु यह बात आचार्य शंकर के जीवन में जैसी स्फुट है, वैसी आज कहीं नहीं मिलती । वे चाहते तो सबको कह सकते थे कि मेरी बात मानो । हममें क्षमता है, सामर्थ्य है, हमारी चल रही है,

फिर भी यदि अधिकतर लोग किसी बात को नहीं मानना चाहते तो हमें नहीं करना है, यह आचार्य शङ्कर की प्रजातान्त्रिक दृष्टि थी। जहाँ हमारी चलती ही नहीं है वहाँ अगर हम तुम्हारी बात मानते हैं, तो यह प्रजातन्तत्र की दृष्टि नहीं हैं। जब चलती ही नहीं तो मानेंगे क्यों नहीं ? जब मन के ऊपर पूरा नियन्त्रण होगा, तभी आचार्य-प्रदर्शित प्रजातन्त्र स्वीकार्य होगा। इच्छा को भी शास्त्रानुसार दबाना पड़ता है। सहयोगियों व जनता के विवेक के सामने अपनी बुद्धि के निर्णय बदलने पड़ते हैं। क्योंकि यह सब विचार का फल है इसलिये अविचारित मनस्तन्त्रता को हटा कर स्वयं को स्वतन्त्र बनाना— यही पुरुषकार है।

आचार्य शंकर कहते हैं कि नर बनने के बाद वैराग्य होने पर प्रायः मनुष्य संसार के विषय में 'मुझे क्या पड़ी है ?' यह सोचकर उससे अलग हो जाता है। परन्तु यह वास्तविक पुरुषकारता नहीं है, क्योकि यहाँ पर तो मन की गुलामी कर रहे हैं। मन जब कामनाओं से प्रवृत्त करता था तो तुमने प्रवृत्ति कर ली और मन अब तुमको निवृत्ति करने को कहता है तो तुमने निवृत्ति कर ली। मन की अधीनता कहाँ गयी ? अतः यह जो अपना स्वातन्त्र्य है, पुरषकार है, इसको लाने के लिये मन से अलग मैं चेतन हूँ, इस बात को समझना पड़ेगा।

आचार्य शंकर लिखते हैं : **'को देवो यो मनःसाक्षी'** — देव कौन है ? जो मन का साक्षी है, जो मन को देखने वाला है, वही देव है। वह मन से अलग है। जो अपने मन को अपने से वैसे ही अलग देखे जैसे कपड़े को अपने से अलग देखता है, जो मन के अधीन नहीं है, वही देव है। इस स्वतन्त्रता को स्फुट करना, यह उनका सन्देश है। नर बनने के बाद अपने में **'पुंस्त्वम्'** पुरुषार्थ लाओ। पुरुषार्थ लाने का मतलब है मन के अधीन न होना, अनात्म-पदार्थों के अधीन न होना। तभी हम वस्तुतः अपने जीवन को स्वतन्त्र और पूर्ण बना सकेंगे।

हम आप सबको आशीर्वाद देते हैं कि आप वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त करके मानव जीवन को सफल बनायें।

अभेद की संस्कृति

प्रत्येक राष्ट्र के, देश के, संस्कृति के , धर्म के जीवन में स्वाभाविक ढंग से उतार-चढ़ाव आता है । सभी कभी उन्नति के मार्ग में जाते हैं, कभी अवनति के मार्ग में जाते हैं । भारतीय संस्कृति की, राष्ट्र की, देश की और हिन्दू धर्म की विशेषता यह रही है कि यह ऊपर-नीचे होते हुए भी आज तक जीवित है और जीवित ही नहीं, अपने को पुनः जगद्गुरु के पद पर प्रतिष्ठित करने के लिये कृत-संकल्प है । अनेक प्राचीन संस्कृतियाँ मिस्र में, असीरिया में, ग्रीस में थी, वे सब समाप्त हो गयीं । इसका मतलब यह नहीं है कि वहाँ के लोग मर गये, वे अभी भी जीवित हैं । परन्तु उन्हें अपने अतीत से अपने अविच्छिन्न सम्बन्ध का बोध नहीं । पाकिस्तानी शिक्षा मन्त्री का कुछ दिन पूर्व दिया बयान 'संस्कृति की समाप्ति' को समझा सकता हैं । एक भारतीय पत्रकार ने उन मन्त्री से पूछा 'मोहनजोदड़ो और हड़प्पा का आप लोगों के इतिहास-ग्रन्थों में नाम ही नहीं आता, यह बात क्यों है ? मोहनजोदड़ो और हड़प्पा पाकिस्तान की सीमा में हैं ।' शिक्षा मन्त्री ने कहा 'यदि हम मोहनजोदड़ो और हड़प्पा का नाम लेवें, यानि पाँच हजार साल पहले की संस्कृति का नाम लेवें तो उसके और हमारे मुस्लिम समाज के प्रारम्भ के मध्य के काल का हम क्या इतिहास लिखें ? इसलिये हम तो शुरू ही तब से करते हैं जब से हमारा इतिहास है ।' अर्थात् पाकिस्तान में रहने वाला व्यक्ति आज यह स्वीकार करने को तैयार नहीं है कि मोहनजोदड़ो के समय से लेकर आज तक उसकी अविच्छिन्न परम्परा है । वह यह मानता है कि कोई नया सिलसिला शुरू हुआ है ।

अविच्छिन्न स्मृति का अभाव हो जाना ही वस्तुतः मृत्यु का लक्षण है । कोई आदमी मर गया, इसका मतलब क्या है ? शरीर में परिवर्तन आ जाते हैं, मन में परिवर्तन आ जाते हैं, परन्तु यदि हमारी स्मृति बिना पूरी तरह टूटे बनी रहती है अर्थात् परिवर्तन के पूर्व, परिवर्तनकाल में व उससे अनन्तर रहने वाला मैं एक ही हूँ ऐसा हमारा निश्चय बना रहता है तो हम जीवित ही समझे जाते हैं । जब

हम कहते हैं कि हमारा पुनर्जन्म, दूसरा जन्म हो गया, तो मतलब क्या है ? हमको अपने पिछले शरीर का स्मरण नहीं है । इसी प्रकार कहते हैं कि मिस्र की संस्कृति मर गयी । तो इसका मतलब है कि उनकी अविच्छिन्न स्मृति नष्ट हो गयी । उनको यह स्मरण नहीं है कि हम वे ही हैं जिनका ऐतिहासिकादि वर्णन मिलता है । यदि पाकिस्तानी यह कहता है कि हम पहले हिन्दू थे, बाद में हम किसी कारण से मुसलमान बन गये लेकिन हैं हम वही, तो हम कहते हैं कि धर्म के बदलने पर भी संस्कृति नहीं बदली । लेकिन वह उसको स्वीकार ही करना नहीं चाहता । वह तो यह सोचता है कि मुहम्मद गोरी, मुहम्मद गजनवी जब से अरब से भारत आये, बस तब से ही हम शुरू हुए हैं और उन्हीं की हम सन्तति हैं । भारतवर्ष आज जीवित है । हम यह क्यों कह रहे हैं ? हमको प्राचीनतम काल से लेकर आज तक अविच्छिन्न स्मृति है । चाहे वह कितने ही मतभेद वाली स्मृतियाँ क्यों न हों । दृष्टान्त के रूप में बुद्ध के साथ हमारा मतभेद है और इसलिये हम बौद्ध धर्म की अनेक बातों को नहीं मानते । परन्तु हम बुद्ध की पूजा करते हैं क्योंकि वे हमारे ही एक महत्तम व्यक्ति थे । उनसे हमारा मतभेद हो सकता है, परन्तु वे हमारे थे, इस विषय में हम निःसन्दिग्ध हैं । हमको कोई सन्देह नहीं है ।

आचार्य शंकर ने इस बात को समझा और समझकर उन्होंने एक नवीन दृष्टि हमारे सामने रखी । भगवान् राम, भगवान् कृष्ण के समय में आसुरी सम्पत्तियाँ बढ़ी । भगवान् ने उनको नष्ट कर दिया । पुनः धर्म ठीक से कायम हो गया । तब तक असुरों के अन्दर कोई बुद्धिभ्रम नहीं था । रावण असुर था, राक्षस था, भोगी था । परन्तु वह अपने को मानता था कि मैं सनातनी वैदिक ही हूँ । विचारधारा में कोई भेद नहीं था । इसलिये रावण जैसा व्यक्ति भी शान्ति से बैठकर विचार करता है, तो इस इच्छा को प्रकट करता है :—

“कदा निलिम्पनिर्झरी-निकुंजकोटरे वसन्
विमुक्तदुर्मतिः सदा शिरःस्थमञ्जलिं वहन् ।
विमुक्तलोललोचनो ललाम-भाल-लग्नकः
शिवेति मंत्रमुच्चरन् कदा सुखी भवाम्यहम् ।।”

कहता है कि कब मेरी दुर्मति नष्ट होगी ? मैं गंगा जी के किनारे किसी पेड़ के नीचे बैठकर भगवान् शंकर का स्मरण करते हुए, शिव-शिव उच्चारण करते हुए अपने आप को धन्य महसूस करते हुए कब रह पाऊँगा ? अतः वह चाहे यह कर नहीं पा रहा है और अन्त तक नहीं कर पाया, लेकिन उसको पता है कि मैं क्या चाहता हूँ। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण के समय में दुर्योधन चाहे नहीं कर पा रहा था लेकिन जानता था कि वस्तुतः मुझे क्या करना चाहिये। परन्तु कलियुग के अन्दर परिस्थिति यह आ गई है कि हमको क्या करना चाहिये, इसके विषय में ही हमारे अन्दर सन्देह पैदा हो गया है। इसलिये आचार्य शंकर ने विरोध को भौतिक स्तर पर प्रकट नहीं करके मानसिक स्तर पर प्रकट किया।

उन्होंने दार्शनिक दृष्टि से हमको यह समझाने का प्रयत्न किया कि किस आधार पर यह भारतवर्ष जीवित है ? और कौन-सा आधार लेने पर ही भारतवर्ष पुनः अपने आपको उठा सकेगा ? उसके लिये उन्होंने सीधी सी बात रखी—**अद्वितीयता, अद्वैत**। इसलिये जो यह हम लोगों ने आचार्य शंकर की भारतवर्ष भर में बारह सौवीं जयन्ती मनानी प्रारम्भ की है, इसका नाम '**अद्वैत जगत्**' रखा गया। चाहे वह किसी भी क्षेत्र में हो, अद्वैत की प्रतिष्ठा ही आचार्य शंकर ने कही, जो कि हमारे राष्ट्र को जीवित रख सकती है। 'द्वैत' का मतलब होता है, दो-पना अर्थात् भेद-भाव। 'अद्वैत' का अर्थ होता है, जहाँ-जहाँ भेद दीखे, वहाँ-वहाँ भेद को हटाना। वह भेद यदि आर्थिक दृष्टि से हमको दीखेगा, तो वहाँ पर भी हम कहेंगे कि आर्थिक भेद को मिटाना है। सामाजिक भेद हमको दीखेगा, वहाँ पर भी हम कहेंगे, सामाजिक भेद को मिटाना है। यानी जितने भेद हो सकते हैं, उनको मिटाना है। हमारे राष्ट्र की स्थापना प्राचीन काल में जब वैदिक ऋषियों ने की तो उन्होंने कहा कि सारा संसार यहाँ आकर एक घोंसला बन जाये। '**यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्**'। घोंसले की विशेषता होती है कि पक्षी इधर-उधर उड़ता है फिर वहाँ आ जाता है। इसी प्रकार भारतवर्ष को देखते हैं तो एक विचित्र परिस्थिति मालूम पड़ती है। संसार में कोई देश और राष्ट्र ऐसा नहीं है, जहाँ सारी जातियाँ मिलें। विचार करिये, कहीं मँगोलॉयड रेस है, जैसे चीन, जापान, मंगोलिया में। कहीं आर्य जाति ही प्रधान है, जैसे यूरोप में। कहीं नीग्रो जातियाँ

प्रधान है जैसे अफ्रीका में। परन्तु भारतवर्ष ऐसा देश है कि जहाँ चारों आधारभूत जातियाँ है। यह भेद इतना ज्यादा दिखाई देता है कि साधारणतया पहाड़ का रहने वाला व्यक्ति रामेश्वर में जाकर के जब विलक्षण चेहरों का दर्शन करता है तो सोचता है कि क्या ये भी हिन्दू हैं? इसी प्रकार हम लोग जब असम में चलें जाते हैं और सर्वथा मंगोल जातियाँ हमें दिखाई देती हैं तो हमारे मन में सन्देह होने लग जाता है और कई लोग तो कह भी देते हैं कि यह है तो चीन वालों की भूमि। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि चाहे निग्रॉइड रेस हो, चाहे मंगोलॉइड रेस, सभी यहाँ उपस्थित हैं और यहाँ से चारों तरफ फैलती चली गयी हैं। इसलिये ऐसा नहीं है कि चीन की सीमा होने के कारण उनकी संस्कृति बदली है, वरन् वहाँ से ही उस क्षेत्र के अन्दर वे लोग आगे बढ़ते चले गये। इसिलिये समानता मिलती है। वे सारे के सारे इस एक राष्ट्र के अविभक्त अंग हैं जिनको कि बाँटा नहीं जा सकता। इसी प्रकार संसार के मत-मतान्तर, मजहब सब यहाँ मिलते हैं। ईसाइयों का कहना है कि ईसा मसीह के शिष्य सेण्ट टामस केरल आये थे। अगर कश्मीर में चले जायें तो आपको वहाँ पर ईसा मसीह की कब्र भी नज़र आयेगी और वहाँ के लोग मानते हैं कि ईसा मसीह स्वदेश से आकर भारतवर्ष में रहे और यहाँ गाड़े गये। ६९२ ईसवी में मुसलमानों का प्रवेश भारतवर्ष में हो गया था, जबकि ६५० ईसवी मुहम्मद साहब के इन्तकाल का समय है।

क्या कारण है कि सब तरफ से विभिन्न मत-मतान्तर मजहब वाले लोग यहाँ पर खिंचकर आते हैं और जो यहाँ आते हैं वे अपना घर समझ कर यहाँ रह पाते हैं?

इसका कारण है कि यह राष्ट्र अद्वैत की भूमि पर स्थित है। जितने भेद हैं, उन भेदों को मिटा कर एकता को स्थापित करने का हमारा सामर्थ्य है। जब-जब हमारा एकता स्थापित करने का सामर्थ्य ढीला पड़ा है तब-तब इस देश, राष्ट्र, धर्म का पतन हुआ है और जब-जब इस राष्ट्र के अन्दर इस एकता को स्थापित करने के, अद्वैत को स्थापित करने के, भेद को मिटाकर अद्वैत को आत्मसात् करने के सामर्थ्य में अभिवृद्धि हुई है तब-तब यह देश उन्नत हुआ है। इसलिये आचार्य

शंकर की हमें सबसे बड़ी देन यह थी कि उन्होंने इस रहस्य का उद्‌घाटन किया कि यदि इस अद्वैत को सामने रखकर हम चलेंगे तो हमारा देश आगे बढ़ता चला जायेगा।

इस अद्वैत के अन्दर एक विलक्षणता है, जो आज के जनजीवन में बड़ी आवश्यक है। प्रायः धार्मिक जीवन और व्यावहारिक जीवन दो अलग-अलग विषय माने जाते हैं। इसलिये जब हम मन्दिर में जाते हैं, तब तो हम पूजा करते हैं, और जब हम दुकान पर बैठते हैं तब हम व्यापार करते हैं। इस प्रकार का द्वैत संसार के मत-मतान्तर, संसार के सब मजहबों के अन्दर है। कुछ कार्य ऐसे हैं, जिन्हें करना धर्म है और कुछ कार्य ऐसे हैं, जिन्हें करना सांसारिक व्यवहार के लिये आवश्यक है। इसिलिये यह द्वैत है। आचार्य शंकर ने, और वस्तुतः हम लोगों के जितने धर्मशास्त्र हैं, उन्होंने इस द्वैत को स्वीकार नहीं किया। वे कहते हैं कि ठीक तरह से जीना ही धर्म है। जिसको तुम धार्मिक क्रिया-कलाप कहते हो, यदि वह तुमको जीने की कला सिखला सकता है तब तो वह उपादेय है और यदि वह केवल तुम्हारे बहुत से कामों में जुड़ जाने वाली एक और चीज है तो वह व्यर्थ है। **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'** गीता के शब्दों में—अपने कर्म को करके, उसे परमात्मा को अर्पण करना ही पूजा है। इसकी दार्शनिक दृष्टि क्या है? जिसको हम भ्रम से संसार समझ रहे हैं, जब विचार से समझा जाता है तो वही साक्षात् परमात्मा है। मैं दुकान चला रहा हूँ, एक व्यक्ति मेरे यहाँ सौदा लेने आया— यह हमें दीख रहा है। परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से देखते हैं तो क्या दीख रहा है? **'देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः'** ग्राहक के शरीर में साक्षात् देव बैठा हुआ है, भगवान् शंकर उसके हृदय में बैठे हुए हैं। इसलिये शिव ही इस शरीर (देवालय) को धारण करके हमारे सामने सौदा खरीदने आये हैं। अतः हम उसको सौदा वैसे ही बेचें जैसे हमारे सामने साक्षात् भगवान् शंकर आये हों लेने के लिये। यह पारमार्थिक दृष्टि वहीं बैठ कर करनी है।

सामान्य रूप से हम लोग एकान्त में बैठ कर इसीलिये ध्यान करते हैं कि यह भावना बन सके। पहले जहाँ सामने वाला (मूर्ति) कुछ करता नहीं, वहाँ

भावना बनाना जरूरी हो जाता है। व्यवहार करने में गलती होना अनिवार्य है। मूर्ति कोई प्रतिक्रिया नहीं करती जिससे उसके प्रति सद्भाव बना रहना सम्भव हैं। जीवित व्यक्ति क्रोधादिपूर्वक प्रतिक्रिया व्यक्त करता है जिससे उसमें शिवदृष्टि बनाये रखना कठिन हो जाता है। इसलिये पहले मूर्ति की पूजा के द्वारा जहाँ पर तुरन्त गाली न मिले, वहाँ पर सेवा करना सीख लो। इसी तरह एकान्त में बैठकर सर्वत्र शिवदृष्टि करना सीख लो। वह सीखने का तरीका है। परन्तु जो तुमने वहाँ ध्यान में सीखा यानी प्राप्त किया, उसको यदि प्रेम के द्वारा बहा नहीं सकते हो तो तुमने कुछ प्राप्त नहीं किया। जो पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर साक्षात् परब्रह्म परमात्मा है, वही हमारे मन की अज्ञानजन्य स्थिति से देखने पर हमको जगत् रूप में दिखाई देता है, दूसरे जीवों के रूपों में दिखाई देता है। जैसे ही हमारा यह अज्ञान दूर हो जायेगा वैसे ही हमको यहाँ पर उस परब्रह्म के सिवाय कुछ नहीं दीखेगा।

इस प्रकार सब द्वैतों को हटाना है, भेदों को हटाना है। इस भेद को हटाने का तरीका क्या? आचार्य शंकर कहते हैं कि सचमुच में एकता है और भ्रम से हमको भेद दीख रहा है। जैसे मनुष्य सचमुच में एक हैं, परन्तु कहीं काला चेहरा, कहीं मोटे दाँत देखकर हमको भेद का भ्रम हो रहा है। इसी तरह सर्वत्र वास्तविक एकता है, भ्रम से अनेकता दीख रही है। एकता कोई नवीन वस्तु नहीं जिसकी स्थापना करनी हो। यदि हमारा अज्ञान हट गया, भ्रम दूर हो गया, तो एकता प्रकट हो जाती है।

हमारे राष्ट्र की वर्तमान परिस्थिति में यह समझना बड़ा जरूरी है। बार-बार जो इन्टीग्रेशन की बात होती है, वह हमें बहुत खटकती है। इन्टीग्रेशन का मतलब होता है कि सचमुच हम अलग हैं और अब हम प्रयत्न करके एक होंगे। हम लोगों का कहना है कि हमारा दृष्टिकोण होना चाहिये— हम सचमुच एक हैं। जिन कारणों से हमको भेद की दृष्टि हो रही है, उन्हे हटाना है। एकता को पैदा नहीं करना है, कल्पित अनेकताओं की निवृत्ति करनी है। क्योंकि जैसे ही हम कहते हैं कि हम एक बनने का प्रयत्न कर रहे हैं, वैसे ही लोगों के मन में आने लगता है कि क्या एक बनने में लाभ है या हानि? यह निश्चय कर लेना जरूरी है कि हमारी एकता अखण्डित है, इसमें कोई सन्देह ही नहीं। यदि किसी कारण

से हमें कहीं भेद-भाव नजर आता है तो मिलकर उस भेद-भाव को हटा देंगे। परन्तु एकता तो अखण्डित है ही। यह निश्चय होने पर ही हमारे सोचने का तरीका बदल जायेगा। इण्टीग्रेशन के विषय में न विकल्प उठेंगे, न विरोध, क्योंकि वह स्थित वस्तु है यह समझ लिया जायेगा। इस एकता को रोकने वाला है अज्ञान। आचार्य शंकर ने कहा है कि सारे भेदों का बीज है 'नाम और रूप'। इन नाम-रूपों का भेद होते हुए ही एक अखण्डता को देखना है, इसके प्रतिबन्धक अज्ञान को हटाना है। अज्ञान की निवृत्ति के द्वारा ही यह काम हो सकता है। इसलिये आचार्य शंकर ने बार-बार अज्ञान को हटाने पर जोर दिया। सारे स्तरों के अज्ञान को हटाना है। जब अज्ञान को हटाया जाता है, नाम-रूप के भेद को हटाया जाता है, तो अभेद अपने-आप प्रकट हो जाता है।

इस अखण्डता की दृष्टि का नतीजा हुआ कि आचार्य शंकर के कुछ समय बाद, उन्हीं की परम्परा में आचार्य विद्यारण्य स्वामी आये और उन्होंने विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की। यह एक ऐतिहासिक सत्य है। उसी का नतीजा यह हुआ कि दक्षिण भारत में दूसरी संस्कृतियों का प्रवेश नहीं हो पाया। विजयनगर साम्राज्य के अन्दर अनेक विदेशी यात्री आये और उन्होंने एक स्वर से कहा है कि वहाँ की धन-धान्य सम्पत्ति अत्यधिक बढ़ी हुई थी। यह हम इसलिये कह रहे हैं कि बहुत से लोगों को यह भ्रम है कि आचार्य शंकर संसार के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं जिसका तात्पर्य है कि हम संसार के प्रति जागरूक न रहें या संसार की उन्नति के लिये प्रयत्नशील न रहें। बात ठीक उससे विपरीत है। आचार्य शंकर का केवल इतना कहना है कि संसार को जैसा तुम समझ रहे हो वैसा न समझो। तुम्हारी नासमझी के कारण मिथ्यात्व है। वस्तुतः संसार पर-ब्रह्म परमात्मा का खेल है। इसलिये आचार्य अमलानन्द लिखते हैं— **"स्वशक्त्या नटवद् ब्रह्म कारणं शंकरोऽब्रवीत्"** आचार्य शंकर कहते हैं कि जैसे नट अपनी शक्ति से तरह-तरह के खेल दिखलाता है, उसी प्रकार परमात्मा सारे रूपों को लेकर एक बड़ा भारी नाटक कर रहा है। उस नाटक के अन्दर हमको जो कार्य करने के लिये अभिनेतापना मिला है, हमको उस कार्य को अच्छी तरह से करना है। उससे परमात्मा प्रसन्न होगा। इस दृष्टि को लाने के लिये, वे इस बात पर जोर देते हैं कि यहाँ पर जो तुमको क्षणिक चीजें मिल रही हैं, वे तुम्हारा

उद्देश्य नहीं हैं। तुम्हारा उद्देश्य तो उस परम शान्ति की प्राप्ति करना है। परमात्मा को प्राप्त करके जिस शान्ति की प्राप्ति होती है, तुम उसी से अलग हुए हो। जब तुम इस खेल को अपना खेल समझ सकोगे, तब तुमको खेल समझने के कारण छोटीमोटी चीजें आकृष्ट नहीं कर सकेंगी। आचार्य विद्यारण्य स्वामी द्वारा संस्थापित वह साम्राज्य कम से कम २५० वर्ष तक चला और उसके अन्दर सब तरह की उन्नति हुई और आचार्य शंकर ने जो बातें कहीं थी, वे वहाँ जीवन में प्रकट हुई।

आज हमारे सामने यह समस्या है कि हम जीवन को दो भागों में बाँटे बैठे हैं। अतः जब हम संसार के कार्य करते हैं तब नैतिकता हमारा आधार बनती नहीं। वैशाखी पर गंगास्नान कर हम समझ लेते हैं कि वर्ष भर के पाप उसी प्रकार मिट गये जिस प्रकार आजकल बैंकों वाले कुछ उधारों को बट्टे खाते लिख देते हैं। जैसे वह धन वापिस नहीं मिलना वैसे हमारे पापों का भी फल हमें नहीं मिलना— यह सोच कर पुनः अगले वर्ष के लिये पाप इकट्ठा करने का कार्यक्रम बनाने लगते हैं। इस दृष्टिकोण के चलते राष्ट्र का उत्थान कहाँ होगा? जो अद्वैत की दृष्टि आचार्य शंकर ने दी, वह जब पुनः आ जायेगी, और अवश्य ही आयेगी, तब पुनः इस देश का उत्थान होगा। इस लोक के अन्दर भी हमारी प्रतिभा तभी पूर्ण प्रफुल्लित होगी यानी खिलेगी। आज लौकिक प्रगति भी द्वैतदृष्टि से आहत है। हमारे यहाँ का इन्जीनियर विदेश में जाकर उन्नति कर लेता है परन्तु यहाँ रहते मौका नहीं पाता क्योंकि यहाँ के उद्योगपति तुरन्त लाभ की चिन्ता में लगे रहते हैं, न कि स्थायी उन्नति की। सभी क्षेत्रों में द्वैत की दृष्टि आ रही है। हमारा राष्ट्र कैसे उन्नत होवे, हम इस राष्ट्र से अभिन्न हैं, इसकी पूरी उन्नति ही हमारी उन्नति है, व्यक्तिगत उन्नति कोई उन्नति नहीं— जब तक यह अद्वैत की भावना हमारी पूर्ण तरह से सब में प्रस्फुटित नहीं होगी, हम उन्नति नहीं कर सकते हैं।

कुछेक प्रगतिशील कर्मठ जन भी यदि इस सत्य से परिचित हो प्रेरणा पा जायें तो समाज की गति की दिशा बदल जायेगी। समाज में कुछ लोग हुआ करते हैं जिनके आचरण को देख कर दूसरे तदनुकूल चलते हैं। ऐसे कुछ लोग भी तैयार हो जायेंगे तो सारे समाज की दृष्टि वैसी ही हो जायेगी। यह जो अद्वैत दृष्टि है, जिसमें किसी प्रकार के भेद की दृष्टि को लेकर चलना नहीं है, उसको

हम अपनी शिक्षा प्रणाली में ला सकें तो बहुत लाभ होगा। चाहे उसको दर्शन के माध्यम से लायें, चाहे साहित्य के माध्यम से लायें। इसको अगर हम अपने शिक्षा के क्षेत्र में ला सकेंगे तो हम बड़ी जल्दी उन्नति कर सकेंगे। बाल्यकाल से पड़े अभेद के संस्कार भेद-भाव के ऐसे विरोधी व्यक्ति को तैयार करेंगे जे समूचे राष्ट्र को एक अभिन्न इकाई के रूप में संहत रख सकेगा। अतः घर में या विद्यालयों में, जहाँ भी हो सके अभेद की शिक्षा का प्रसार करें यह सबका कर्तव्य है।

मन:समर्पण से आत्मशक्ति

आचार्य शंकर जिस समय अवतरित हुए, उस समय भारत की परिस्थिति धार्मिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में वर्तमान स्थिति से भी अत्यन्त हीन दशा को प्राप्त हो गई थी। भगवान् बुद्ध ने अनात्मवाद का जो सन्देश दिया था, उसका रूप बदलते-बदलते ऐसा हो गया था जिसमें कर्ता-भोक्ता आत्मा है ही नहीं। इस दृष्टिकोण के कारण सही कार्यों को करने की आन्तरिक स्फुरणा प्रतिबद्ध होने लग गई थी। एक झूठा वैराग्य चारों तरफ छा गया था। जीवन के प्रति निराशावाद चारों तरफ था और उसके साथ ही थी भोगवासना। जितना जल्दी से जल्दी भोगा जा सके भोग लिया जाये। ऐसी परिस्थिति में जब वे आये तो उन्होंने देखा कि यदि चारों तरफ का वातावरण बदलना है तो सबसे पहले अनात्मवाद का जो सिद्धान्त है, उसके ऊपर प्रहार आवश्यक है। जिस कारण से बुद्धदेव ने अनात्मा के सिद्धान्त को बताया, उसका विचार यहाँ नहीं करेंगे। यह स्मर्तव्य है कि जब-जब बुद्ध से प्रश्न किया गया है कि क्या आत्मा नहीं है? तो बुद्ध ने हमेशा उत्तर दिया 'मैंने ऐसा नहीं कहा'। एक बार जब उनके प्रधान शिष्य आनन्द ने उनको बहुत जोर दे करके पूछा तो उन्होंने मुट्ठी में कुछ पत्ते उठा लिये और कहा 'आनन्द, मेरी मुट्ठी में पत्ते ज्यादा हैं या जंगल के पत्ते।' आनन्द ने कहा कि जंगल के पत्ते बहुत ज्यादा हैं। वे बोले 'इसी प्रकार जितनी बातें मैंने तुमको बताई हैं, वे मुट्ठी के पत्ते जितनी हैं और जितनी बातों को मैं जानता हूँ, वे जंगल के पत्तों की तरह हैं।' परन्तु जिस किसी कारण से उन्होंने इस बात को कहा, उसका जो रूप बन गया था, उससे सबके अन्दर से आत्म-

विश्वास खो चुका था। आचार्य शंकर ने आत्म-विश्वास का प्रबल समर्थन किया। वर्तमान काल में भी सबसे ज्यादा आवश्यकता हमारे अन्दर आत्म-विश्वास जगाने की है।

आत्मा का स्वरूप उन्होंने बतलाया — "**आत्मैव ब्रह्म**", आत्मा ही ब्रह्म है। अर्थात् तुमसे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। तुम्हारे अन्दर वह सर्वज्ञ और सर्व-शक्तिमान् परमेश्वर बैठा हुआ है। वही तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है। कुछ भी ऐसा नहीं है, जिसको तुम न कर सको। यदि तुम नहीं कर पा रहे हो तो इसका एकमात्र कारण तुमको अपनी शक्ति का ज्ञान न होना है। अज्ञान से सरल सही रास्ता छोड़कर गलत कठिन रास्ता भी अपना लिया जाता है। इसमें दृष्टान्त है हमारी पूजाविधि। आचार्य शंकर ने कहा है—

"गभीरे कासारे विशति विजने घोरविपिने
विशाले शैले च भ्रमति कुसुमार्थं जडमतिः।"

वे कहते हैं कि जो लोग जडमति हैं, स्वयं जड पदार्थों का विचार करने वाले हैं, वे सोचते हैं कि जड पदार्थों से ही परमेश्वर का पूजन भी कर लेवें। यही हमारी मूर्खता है। अतः जो बड़े-बड़े गहरे-गहरे तालाब हैं, जहाँ पर कमल के फूल खिलते हैं, उन तालाबों के अन्दर प्रवेश करके बड़ी कठिनाई से कमल के फूल लेकर आते हैं और अपने मन में सोचते हैं कि अब तो भगवान् शंकर प्रसन्न हो ही जायेंगे। जहाँ कोई मनुष्य नहीं है, ऐसे घोर जंगल में जाकर बड़े ऊँचे-ऊँचे पत्थरों पर चढ़कर फूल एकत्र करते हैं। यदि केदारनाथ जायें तो वहाँ देखेंगे कि ब्रह्म-कमल लेने के लिये बड़े ऊँचे पहाड़ पर चढ़कर लोग जाते हैं। बर्फ की चट्टानों पर बिना जूते पहिने हुए जाना पड़ता है क्योंकि भगवान् के लिए कमल लेकर आने हैं। ब्रह्मकमल एक विशिष्ट कमल होता है।

बाह्यार्पणार्थ यों प्रयास करने वाले जडमति हैं तो प्रश्न स्वाभाविक है— आप क्या कहते हैं ? हम कैसे पूजा करें ? उत्तर है —

"समर्प्यैकं चेतःसरसिजमुमानाथ भवते
सुखेनावस्थातुं जन इह न जानाति किमहो॥"

तुमको जो परमेश्वर ने हृदयकमल दिया है, जिसके अन्दर चेतना स्पष्ट है, यह हृदयकमल यदि तुम परमेश्वर को अर्पित करो, तो भगवान् की असीम प्रसन्नता निश्चित है। इसके लिये न तुम्हें कहीं तालाब में फँसने की ज़रूरत है, न कहीं पहाड़ों के ऊपर जाने की ज़रूरत है, न कहीं चट्टानों के ऊपर और न कहीं घोर जंगल में जाने की ज़रूरत है। परन्तु यदि यह समर्पण कर दिया जाता है तो भगवान् शंकर प्रसन्न होकर तुम्हारा कल्याण कर देते हैं। लेकिन यह चित्त-कमल हम चढ़ा नहीं पाते। कारण क्या है ? जैसे तालाब के अन्दर जाकर कमल को तोड़ना है, वैसे ही हमारे चित्त में दुनिया भर की वासनाएँ भरी हुई हैं, दुनिया भर की कामनाएँ भरी हुई हैं, जब तक उन कामनाओं व वासनाओं के तालाब से हम अपने चित्त को अलग न कर लेवें तब तक उसको भगवान् शंकर को चढ़ा नहीं सकते। इसलिये जीव कहता है कि बाहर की चाहे जो चीज़ हमसे चढ़वा लो लेकिन यह चित्त-कमल चढ़ाने की बात मत करो। इसी प्रकार घोर जंगल के हिंस्र प्राणियों से बचकर फूल लाने की तरह घृणा, द्वेष आदि से सुरक्षित होकर ही चित्तकुसुम भगवान् को अर्पण करने के लिये लाया जा सकता है। इन कुभावों से बचना शेर आदि से बचने की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन है। इसलिये मनुष्य कहता है कि चलो, घोर जंगल में जाकर फूल ले आओ। अपने हृदय के अन्दर तो और भी हिंसक प्राणी भरे हुए हैं। जब हम धीरे-धीरे अभ्यास करते हैं तो चित्त को सर्वथा परमात्मा को अर्पण करने के लिये हमको चट्टानों पर चढ़ने जैसी कठिन चढ़ाई करनी पड़ती है। नैतिक मूल्यों का पालन करना पड़ता है। जब यह कर पायेंगे, तभी हम भगवान् शंकर को अपना चित्तकमल चढ़ा पायेंगे।

यदि यह चित्तकमल भगवान् को चढ़ा दिया तो उसका नतीजा क्या होगा ? चित्त में होने वाले अज्ञान और अन्य विकारों के कारण ही हमारी आत्मशक्ति संकुचित हो गई है। हम कुछ कर नहीं पा रहे हैं। प्रायः आदमी चाहता है कि उसका मोक्ष हो जाय। मोक्ष का मतलब होता है छूटना। किस चीज से हम छूटना चाहते हैं ? जो हम चाहते हैं वह हम जान नहीं पाते, जो हम चाहते हैं वह कर नहीं पाते। जो हम चाहें उसका ज्ञान हमको हो जाये और जो हम चाहें उसको कर लेवें तो कौन कहेगा कि हम संसार-बंधन से छूटना चाहते हैं ? अतः अपने

अन्दर यह जो सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमत्ता नहीं है, यही बंधन है, जिससे हम छूटना चाहते हैं ? यही बंधन तो अज्ञान का फल है । इसलिये जब हम इस चित्त को परमेश्वर को चढ़ायेंगे, इन साधनों को अपनायेंगे तो हम से एक उत्तम शक्ति का प्रवाह स्फुटित होगा । आचार्य शंकर ने इस बात को बतलाया कि जैसे ही चित्त को हम परमात्मा को अर्पण करते हैं, वह शक्ति स्वतः स्फुरित हो जाती है ।

भेद केवल भ्रम है

वेदों का समग्र तात्पर्य अद्वैत ही है । इस द्वैत के भ्रम को, भेद को, मिटाने के लिये ही वेद की प्रवृत्ति है । इसलिये वेद वास्तविक शास्त्र है । जिस प्रकार लोक में दो आदमियों में भेद कराने वाला व्यक्ति बुरा माना जाता है और भेद को मिटाने वाला व्यक्ति अच्छा माना जाता है, इसी प्रकार अनेक शास्त्र भेद को प्रतिपादित करने वाले हैं, भेद को वास्तविक सिद्ध करने वाले हैं, और वेद से तो अभेद की बात कहे बिना रहा ही नहीं जाता । अतः इन दोनों प्रकार के शास्त्रों में श्रेष्ठ कौन है, यह स्पष्ट है ।

ऋग्वेद का प्रारम्भ होता है अद्वैतवर्णन से । लोग कहते हैं कि वेद के अन्त में वेदान्त है किन्तु वस्तुतः समग्र वेद में वेदान्त है । अतः ऋग्वेद के आरम्भ में ही कहा—

"ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥"

वह परमात्मा क्या है ? यज्ञ के पुरोहित के रूप को धारण करने वाला वह परमात्मा ही है । यज्ञ के द्वारा जिसको हम पूजित करेंगे, जो पूजा जायेगा, वह देव भी अग्नि ही है । यज्ञ में ऋषि, जो आहूति देने वाले ऋत्विक् हैं, वे भी वह अग्नि ही है । यज्ञस्थ 'होता' है, वह यजमान जो हवन आदि करने वाला हैं, वह भी अग्नि ही है । यज्ञ का जो फल रूप रत्न देने वाला है, सारे फलों का आधार भी वह परमात्मा ही है । अद्वैत वेद का ऐसा विषय है, जो वहाँ पर उसी तरह फैला हुआ है जैसे पत्ते के अन्दर पत्ते की नाड़ियाँ फैली होती

हैं। अद्वैत प्रारम्भ से अन्त तक एक जैसा फैला हुआ है। मूल मतभेद उत्पन्न करने वाली चीज क्या है? अपने आप को संकुचित करना।

आचार्य सुरेश्वर अविद्या का स्वरूप बतलाते हैं :

"अहमेव परं ब्रह्मेत्यस्यार्थस्याप्रबुद्धता।

अविद्येति वयं ब्रूमः येह नास्ति सदात्मनि॥"

मैं ही सर्वव्यापक तत्त्व हूँ। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति— इनमें सब कुछ बदल रहा है। परन्तु बदल कब रहा है? जब मैं हूँ। इसलिये मैं सबका आधार हूँ। यह विचार से पता तो झट लगता है, परन्तु पता लगने के बाद भी टिकता नहीं है। इसलिये आचार्य शंकर कहते हैं कि जड और चेतन का भेद झट समझ आता है क्योंकि जड जड है, चेतन चेतन है। लेकिन जड मन को अपना रूप मान कर, 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' अनुभव बना रहता है। मैं गोरा, मैं काला, मैं ब्राह्मण, मैं क्षत्रिय, मैं ब्रह्मचारी, मैं संन्यासी, ये सब जितने शरीर और मन के धर्म हैं, उनको हम सदा अपना मान लेते हैं। अज्ञान हटाये बिना अनात्मा में आत्मबुद्धिरूप भ्रम समाप्त हो नहीं सकता। केवल जड से मैं चेतन भिन्न हूँ, यही समझने से काम पूरा नहीं होता, मैं ही सबका आधार हूँ, सब कुछ मुझमें कल्पित है, मैं हूँ तो सब है और मैं नहीं तो कुछ नहीं— इस बात को समझना जरूरी है।

इस बात को समझने का सीधा उपाय जान लेना चाहिये। विज्ञान की दृष्टि से यदि देखे तो सामने एक लोहे की चीज दीख रही है। बिल्कुल ठोस है। लेकिन क्या यह सचमुच ठोस है? जिसको हम ठोस देख रहे हैं, उसके अन्दर अधिकतर पोल है और थोड़े से लोहे के परमाणु वहाँ पर मौजूद हैं। उन लोहे के परमाणुओं के बीच की पोल हमारी आँख का विषय नहीं, इसलिये हमको ठोस दीख रहे है। अनुवीक्षण यंत्र से यदि देखोगे तो इसमें पोल दिखाई देगा और बीच में परमाणु दिखाई देंगे। ऐसी पोल वाली चीज को ठोस कौन बना रहा है? केवल हमारी आँखे बना रही हैं। एक प्रयोग किया जाता है, उसको न्युटन्स डिस्क कहते हैं। एक तश्तरी पर सात रंग लगा दिये जाते हैं। सात रंग उस तश्तरी पर नजर आते हैं। फिर उस तश्तरी को जोर से घुमाया जाता है।

जब वह जोर से घूमती है तो वहाँ एक सफेद रंग दीखता है। अब विचार करना है कि क्या उस तश्तरी के उपर सफेद रंग पोत दिया गया है? तश्तरी के ऊपर अब भी वे ही सात रंग मौजूद हैं। परन्तु हमारी आँख उनको अलग-अलग करके देख नहीं सकती। इसलिये हमको लगता है कि वहाँ पर सफेद रंग है। वे सात रंग हमारी आँख में आकर मिल जाते हैं इसलिये सफेद प्रतीत होते हैं। एक दूसरा दृष्टान्त देंगे। चलचित्र की फिल्म को खोल कर बिना गति के देखें तो अलग-अलग चित्र दिखाई देंगे। क्रिया करता हुआ कोई दिखाई नहीं देगा। परन्तु उसी फिल्म को जब तेजी से चलाया जाता है तो लगता है कि क्रिया हो रही है। फिल्म के चित्रों में क्रिया नहीं है, परन्तु हमारी आँख उन चित्रों के भेद को ग्रहण नहीं कर पाती, जिससे हमें क्रिया दीखती है।

परमाणुओं को और बड़े इलैक्ट्रॉन माइक्रोस्कोप से देखेंगे तो उसमें केवल ऋणाणु और धनाणु नजर आयेंगे, यानी इलेक्ट्रॉन्स और प्रोटॉन्स नजर आयेंगे। आगे उन प्रोटोन्स को भी देखें तो उसके अन्दर और छोटे-छोटे पदार्थ नजर आयेंगे। इस प्रकार जितना सूक्ष्म अन्वेषण करेंगे उतनी अधिक पोल ही पोल मिलती जायेगी। वैज्ञानिकों ने कहा है कि यदि सारी पृथ्वी के पदार्थ को एकत्रित करके ठोस बना दिया जाये तो क्रिकेट की एक गेंद जितना आकार रहेगा। बड़ा आकार तो कणों के मध्यवर्ती आकाश के कारण दीखता है। उत्तर प्रदेश में 'दौलत की चाट' मिलती है जो अत्यधिक फेंटी हुई मलाई होती है। उसमें भार बहुत कम और फैलाव बहुत अधिक होता है। संसार भी ऐसा ही है — दीखने में सारवान् होने पर भी है सर्वथा निःसार। किन्तु हम इसकी असलियत पहचान नहीं पा रहे हैं।

जब कहा जाता है कि यह द्वैत प्रपंच नहीं है, यह भेद प्रपंच नहीं है, तो तात्पर्य है कि यह वस्तुतः नहीं है, परन्तु हमारी इन्द्रियाँ, हमारे मन इसको इस प्रकार से ग्रहण कर रहे हैं। वस्तुतः केवल सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। एक परमात्मा ही सारे रूपों को ग्रहण करके प्रतीत हो रहा है। जैसे वह बाह्य संसार के रूप में प्रतीत हो रहा है, ठीक वैसे ही वह हमारे अहं-प्रत्यय में प्रतीत हो रहा है। यदि इस अहं-प्रत्यय में उसे जान लेते हैं तो उसे सर्वत्र भी जान सकते हैं। जैसे यह देखने के लिये कि बटलोई का चावल

पक गया कि नहीं, एक चावल देख लेते हो तो पता लग जाता है, वैसे ही जब इस अहं-प्रत्यय में उस चिद्रूप का साक्षात्कार होता है तो पता लग जाता है कि यह चिद् ही सर्वत्र फैला हुआ है और इसका यह सच्चिदानन्दघन रूप ही है। जहाँ यह निश्चय हुआ '**अहमेव परं ब्रह्मेति**', वहाँ पता लग गया कि वस्तुतः यह एक ही तत्त्व है और सारा भेद-भ्रम हट गया। जो इस अहं को स्फुरित कर रहा चेतन है, वही सर्वत्र स्फुरित हो रहा चेतन है। इसमें किंचित् भी भेद नहीं है। जैसे ही यह अभेद-प्रत्यय होने लगता है, बुद्धि से ही समझ में आने लगता है, वैसे ही मनुष्य जितने भेद के व्यवहार हैं, उनके विरोध भूल जाने लगता है।

कई बार लोग प्रश्न करते हैं कि इस अद्वैत ज्ञान का लाभ क्या होगा? अद्वैत ज्ञान का लाभ तो अपना मोक्ष है लेकिन इस मोक्ष के साथ ही वह इस बात को कह सकता है कि जितने भेद हैं, वे कल्पित हैं। संसार इस भेद के दावानल में ही जल रहा है। सामाजिक भेद, आर्थिक भेद, राष्ट्रों के भेद, धर्मों के भेद, कितने ही भेद हैं। अद्वैत समझने वाले का निश्चय है कि सारे भेद कल्पित हैं। वस्तुतः केवल एक ही है। यदि इस संसार को शान्ति दे सकता है तो यह अद्वैत का सिद्धान्त ही दे सकता है। विचारपूर्वक एक अद्वैत के विषय को ग्रहण करने के लिये तैयार न होने से ही सभी भेद उपजते और बढ़ते हैं। यह जो अद्वैतवाद का सन्देश है, इसके दोनों पक्ष हैं। अपने अन्दर तो यह आत्मज्ञान को उत्पन्न करके परम शान्ति और मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है और यह जिस चीज को स्पष्ट करता है, उसके आधार पर हमारे राष्ट्र और मानवता का निर्माण होगा तो शान्ति और सुख सर्वत्र फैलेगा। इन दोनों दृष्टियों से अद्वैतवाद की प्रधानता है।

आप सभी यही सूत्र याद रखें : जहाँ-जहाँ भेद मिटा सकें, वहाँ-वहाँ भेद मिटायें।सर्वत्र अभेद की दृष्टि को जीवन में लाना, बस यही आचार्य शङ्कर के सन्देश का मूल है।

अद्वैतसाधना का क्रम

आचार्य शंकर का सन्देश उनके समय में लोगों के हृदय में जैसा भाव उत्पन्न करता था, वैसा ही आज उत्पन्न करता है। इसका मूल कारण है कि वह भारत की समग्र परम्परा को अपने में आत्मसात् करके हमारे सामने रखता है।

आचार्य शंकर की शैली युक्तिसंगत शैली है। दृष्टान्त के लिये, वे उपदेश-साहस्री में इस संसार-चक्र का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं :

"कर्माणि देहयोगार्थं देहयोगे प्रियाप्रिये।

ध्रुवे स्यातां ततो रागो द्वेषश्चैव ततः क्रियाः॥"

कर्म से मनुष्य को शरीर की प्राप्ति होती है। अब यह बात बिलकुल युक्ति और अनुभव के अनुसार है। जैसा-जैसा मनुष्य कर्म करता है, वैसा ही वैसा शरीर इसको मिलता जाता है। कर्म अपने फल को अवश्य पैदा करता है। बिना शरीर में आये हुए, उस कर्म के फल को भोगा नहीं जा सकता। इसलिये कर्म अपने फल को देने के लिये शरीर की प्राप्ति कराता है, शरीर से सम्बन्ध कराता है। अब जब शरीर मिल गया तो शरीर का सम्बन्ध होते ही शरीर के निमित्त से कोई चीज अपने को प्रिय लगेगी, कोई चीज अप्रिय लगेगी। सर्दी के मौसम में धूप प्रिय लगेगी और गर्मी के मौसम में धूप अप्रिय लगेगी। जहाँ प्रिय या अप्रिय लगा, कोई चीज अच्छी और कोई चीज बुरी लगी, तो जो चीज प्रिय लगेगी, उसके प्रति राग अवश्य होगा और जो चीज अप्रिय लगेगी, उसके प्रति द्वेष अवश्य होगा। यदि हमको कलकत्ता का रसगुल्ला प्रिय लगा तो अगली बार कोई कलकत्ता जा रहा होगा तो जरूर कहेंगे 'भइयत्त दस रसगुल्ले लेते आना।' यदि हम किसी घर के सामने से निकले और उसने बिना मतलब गालियाँ दीं तो अगली बार हम सोचेंगे कि दूसरी गली से जायें, इसी गली से निकलेंगे तो गालियाँ मिलेगी। इसलिये जहाँ-जहाँ राग-द्वेष हुआ वहाँ तदनुकूल क्रिया होगी। जो चीज अच्छी लगी, उसकी तरफ जायेंगे और जो चीज बुरी लगी, उससे दूर होंगे।

प्रश्न उठता है कि इस चक्र से निकलने का उपाय क्या है? तो कहते हैं —

"अज्ञानं तस्य मूलं स्यादिदि तद्धानमिष्यते।

ब्रह्मविद्याऽत आरब्धा ततो निःश्रेयसं भवेत्॥"

शरीर के प्रिय लगने से जो मुझे स्वयं प्रिय और अप्रिय लगता है, वही प्रवृत्ति का कारण बनता है। यदि किसी प्रकार से शरीर के साथ मेरा सम्बन्ध हट

जाये और शरीर को जो चीज प्रिय और अप्रिय लगे, वे मुझे प्रभावित न कर सकें तो आगे राग-द्वेष नहीं होगा और क्रिया नहीं होगी।

"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।

तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥"

गीता में भगवान् ने भी इसीलिये सारे संसार का मूल राग-द्वेष को ही बतलाया। अर्जुन ने कहा 'महाराज इस सारे संसार को यदि प्रकृति ही चलाती है तो फिर जीव का पुरुषार्थ क्या है ?' भगवान् ने कहा कि राग और द्वेष के वश में न आवे, बस यही सारे शास्त्रों का अन्तिम तात्पर्य है, चरम लक्ष्य है। राग-द्वेष तभी मिट सकता है जब शरीर के साथ हमारा सम्बन्ध मिट सके। शरीर के साथ सम्बन्ध मिटाने के लिये ही योगशास्त्र भी प्रवृत्त हुआ। परन्तु योगाभ्यास के द्वारा जब हम समाधि को प्राप्त करते हैं, तब समाधि के समय तो शरीर का भान नहीं रह जाता, परन्तु जैसे ही व्यवहार करने लगते हैं, वैसे ही शरीर के साथ फिर सम्बन्ध आ जाता है। इसलिये बड़े-बड़े योगियों के इतिहासों को जब देखते हैं तो एक तरफ समाधि में लीन हैं, दूसरी तरफ अत्यन्त क्रोध करने वाले देखे जाते हैं। उसका मूल कारण यही है कि समाधि काल में शरीर से अपने को अलग जानने पर, समझने पर भी, जैसे ही व्यवहारभूमि में आते हैं, वैसे ही फिर शरीर के साथ एक हो जाते हैं।

वेदान्त वह प्रक्रिया बतलाता है जिससे चाहे समाधि में जाओ, चाहे व्यवहारभूमि में रहो, तुम्हें कभी भी शरीर के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं होगा, तादात्म्यबोध नहीं होगा, क्योंकि शरीर के साथ वास्तविक तादात्म्य है नहीं। इसका तरीका क्या है ? जीवन में हमेशा सावधानीपूर्वक इन दो चीजों को अलग-अलग देखते रहना है कि मेरा स्वरूप क्या है और शरीरादि जिस किसी चीज का अनुभव हो रहा है, उसका स्वरूप क्या है। सावधानीपूर्वक हमेशा इसको सोचते रहना है। मैं वह हूँ जो जानने वाला है और जिसको जान रहा हूँ, उससे मैं अलग हूँ। अतः जब-जब सुख-दुःख, राग-द्वेष, किसी भी चीज की प्रतीति होवे, तो अपने आप विचार करें कि इसकी प्रतीति हो रही है, इसका अनुभव हो रहा है, और मैं वह हूँ, जो इसका अनुभव कर रहा हूँ। अतः मैं इस अनुभव से अलग हूँ। मैं अनुभव करने वाला हूँ। जिस चीज का अनुभव हो रहा है, वह मैं नहीं हूँ।

आचार्य शंकर जब बच्चे ही थे, अभी गुरु के पास पढ़ रहे थे, तब भिक्षा लेने के लिये किसी कुटिया में गये। विधवा ब्राह्मणी थी, उसने देखा कि अत्यन्त तेजस्वी बालक भिक्षा लेने के लिये आया हुआ है, परन्तु उसके घर में कुछ नहीं था। बड़ी गरीब थी। फिर भी यथासम्भव उसने अपनी मटकियों में जाकर देखा लेकिन कहीं कुछ मिला नहीं। बड़ी दुःखी होकर आई और कहने लगी 'मैं देना तो चाहती हूँ लेकिन भगवान् ने मुझे इस लायक नहीं बनाया कि मैं तुम्हें कुछ दे सकूँ।' आचार्य शंकर ने कहा 'भीतर देखो, कुछ न कुछ मिल ही जायेगा, जा करके ढूँढो। अपने ऊपर विश्वास करो, कुछ न कुछ मिलेगा ही।' वह गयी तो उसे एक सूखे आँवले का टुकड़ा मिल गया जिसे वह लेकर के आ गयी। आचार्य शंकर ने उसको बड़े प्रेम से खाया और साथ ही भगवती लक्ष्मी जी से प्रार्थना की। उनका चित्त सर्वथा परमेश्वर को समर्पित था। लक्ष्मी जी तुरन्त प्रकट हो गई। कहने लगी 'तुम्हारी क्या इच्छा है?' आचार्य बोले 'इस विधवा का हृदय इतना अच्छा है और इसके घर में कुछ नहीं है, यह तो ठीक नहीं।' लक्ष्मी जी कहने लगीं 'इसके कर्म ही ऐसे हैं, मै क्या करूँ?' उन्होंने कहा 'कर्म पिछले जो भी रहे हों, अभी तो इसने मुझे आँवले का टुकड़ा दिया है। मैं कौन हूँ यह आप जानती ही हैं। अतितीव्र पुण्य या पाप तीन क्षण में भी फल देने योग्य हो जाता है, यह शास्त्रों में बताया है। अतः श्रद्धापूर्वक मुझे आँवला देने का जो फल होवे, वह इसको मिल जाये।' नजीता यह हुआ कि लक्ष्मी जी ने उसके घड़ों के अन्दर सोने की अशर्फियों को भर दिया, सोने के आँवलों को भर दिया। यह है आत्मविश्वास। इसने मुझे यह दिया है, इसका भाव शुद्ध है, इसकी मुझे मदद करनी ही चाहिये। यह विश्वास न हो तो आदमी बैठ जाता है—अगर इसका प्रारब्ध इतना फूटा है तो मैं क्या कर सकता हूँ? यह आत्मविश्वास की कमी है।

महात्माओं में एक कथा प्रसिद्ध है। किसी भक्त को नारदजी ने कहा 'तुमको कुछ चाहिये तो माँग लो।' उसने नारदजी से कह दिया कि 'मेरी सन्तति नहीं है, सन्तति हो जाये।' नारद जी ने जाकर भगवान् से पूछा कि उसके भाग्य में क्या है। भगवान् ने कह दिया कि 'सात जन्मों में भी सन्तति नहीं होगी'। नारद जी ने आकर कह दिया कि 'सात जन्मों में भी तुम्हारी संतति नहीं होगी।' भक्त था, इसलिये सन्तोष करके रह गया। थोड़े दिनों में वहाँ से एक महात्मा परमहंस निकले। उनसे भी ऐसे ही बात हुई। उसने कहा 'महाराज कुछ मिलना तो मुझे

है नहीं। मै माँग कर क्या करूँ ?' महात्मा बोले, 'नहीं, माँगों तो सही।' भक्त ने कहा 'नारद जी कह गये हैं कि मुझे सात जन्म में भी बच्चे नहीं होने हैं। बच्चे की ही कमी है, और तो कमी है नहीं।' महात्मा ने कहा 'जा तेरे सात बच्चे इसी जन्म में हो जायेंगे।' महात्मा चले गये। धीरे-धीरे सात बच्चे उत्पन्न हो गये। नारद जी को इस बात का पता लगा तो वे बड़े नाराज हुए और भगवान् से कहने लगे 'आपने मुझे गलत क्यों बताया ?' भगवान् ने उत्तर दिया 'तुमने तो पूछा था कि इसके प्रारब्ध में क्या है। महात्मा ने तो प्रारब्ध नहीं पूछा, वह दे आये। तू भी यदि दे आया होता तो तेरी बात मुझे रखनी पड़ती।' इसी प्रकार आचार्य शंकर ने उसी समय उसको दे दिया। उनको दृढ आत्मविश्वास है कि मै दूँगा, तो मिलेगा कैसे नहीं ? साथ में यह भी बताया कि जहाँ तक सम्भव हो सके यदि किसी को आर्थिक आवश्यकता है तो उसके सामने यह न सुनाने लग जाओ कि अरे धन तो दुःख का कारण है, काहे के लिये धन चाहता है ? उसकी आवश्यकता की पूर्ति करने के बाद फिर उसको उपदेश दो। यह है आत्म-विश्वास।

वहाँ से आचार्य शंकर आगे चले। एक जगह पर उन्होंने विचित्र दृश्य देखा : एक मेंढक के उपर सर्प छाया करके बैठा हुआ है। उसी समय उन्होंने निश्चय किया कि यह पवित्र स्थल है। पता लगा कि विभाण्डव महर्षि ने वहाँ पर तपस्या की थी। जिन्होंने रामचन्द्र जी को उत्पन्न करने के लिये यज्ञ कराया था, वे श्रृंगी ऋषि विभाण्डव महर्षि के पुत्र थे। आचार्य शंकर ने वहीं पर संकल्प किया कि अपना प्रथम मठ यहाँ बनाऊँगा। यह आत्म-शक्ति है। यह नहीं सोच रहे हैं कि अभी तो बहुत देरी है, अभी मैं क्या कर सकता हूँ। यह भावना नहीं है। जीवन में सर्वत्र उनके अन्दर जो यह पूर्ण आत्म-विश्वास था, जिसके साथ उन्होंने कार्य किया, उसी का नतीजा था कि सारे भारत को इस आत्म-शक्ति के सामने झुका सके।

आत्म-शक्ति को रोकने वाला तो अज्ञान है, उसको दूर करना ज़रूरी है। अज्ञान का रूप क्या है ? लोक में देखा गया है कि सीमित होने पर जो सदोष हो सकता है, वही असीम हो जाये तो निर्दोष बन जाता है। घड़े में बन्द आकाश में दुर्गन्ध रह सकती है, सर्वत्र फैले आकाश में नहीं। छोटे तालाब का जल गंदा

रह सकता है पर महानदियों में बहता हुआ वही जल खुद-ब-खुद साफ हो जाता है। जहाँ-जहाँ व्यक्ति या सीमित वस्तु समष्टि में, व्यापक में मिल जाती है, वहाँ-वहाँ शुद्धि का रूप शास्त्रकारों ने बड़े सीधे ढंग से बतलाया। ऋषि कहते हैं 'वायु! आपको नमस्कार है क्योंकि आप प्रत्यक्ष देवता हैं, परब्रह्म परमात्मा हैं।' क्यों परब्रह्म परमात्मा हैं? संसार में सब चीजों के अन्दर छूआछूत है। कोई भी चीज किसी ने छू दी तो आजकल की भाषा में इनफेक्ट हो जाती है। पुरानी भाषा में स्पर्शास्पर्श का दोष आ जाता है। अन्न को किसी ने छू दिया तो खाने लायक नहीं रहा। पानी को किसी ने छू दिया तो पीने लायक नहीं रहा। परन्तु एक चीज की अशुद्धि का विचार कभी नहीं किया जाता है और वह है वायु। जो साँस मैं अभी ले रहा हूँ, वह पाँच मिनट पहले यहाँ से जाने वाले किसी और ने छोड़ी है और वही हवा मेरे अन्दर आ रही है, परन्तु क्या उसके स्पर्शास्पर्श से मेरे अन्दर कोई विकार आता है? नहीं। क्योकिं यह वायु समष्टि से सम्बद्ध है। वायु हमेशा समष्टि-सम्बन्ध वाली रहती है। इसलिये उसमें शुद्धि रहती है।

आचार्य शंकर ने बताया कि अज्ञान क्या चीज है। हम अपने आप को केवल एक शरीर के अन्दर रहने वाला बँधा हुआ पुतला समझ रहे हैं। यही अज्ञान है। उसकी जगह यदि सब प्राणियों में रहने वाला मैं ही हूँ, इस बात को समझ लें तो अज्ञान दूर हो जायेगा और हमारी अपरिच्छिन्न शक्ति विकसित हो जायेगी यानी आत्म-शक्ति विकसित हो जायेगी। इसके लिये आचार्य शंकर ने साधना का एक क्रम बनाया। बड़ा ही वैज्ञानिक क्रम है।

सबसे पहली साधना उन्होंने रखी विवेक। विवेक का मतलब है कि क्या चीज सत्य है, क्या असत्य है; क्या नित्य है, क्या अनित्य है; क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है—यों अलग-अलग कर समझना। प्रत्येक चीज में अपनी बुद्धि का प्रयोग करेंगे, समझने का प्रयत्न करेंगे। किसी चीज़ को लिखा है, केवल इतने मात्र से न मानें। आचार्य शंकर से बड़ा कोई विचारक नहीं हुआ और उनसे बड़ा कोई शास्त्र को सर्वथा स्वीकार करने वाला भी नहीं हुआ। वे कहते हैं कि मैं इसलिये वेद की श्रुति को स्वीकार करता हूँ, क्योंकि वह सर्वथा युक्तिसंगत है। आचार्य शंकर के एक शिष्य आचार्य पद्मपाद ने कहा है कि यदि उनके ग्रन्थों को देखें तो अनुमानतः ग्रन्थों में आधा युक्तियोग है और आधा शास्त्रों का प्रमाण

है। जितना शास्त्रों का प्रमाण दिया है, उतनी ही उनको पुष्ट करने वाली युक्तियाँ हैं। जिस प्रकार से जब हम कहते हैं कि न्यूटन या आइन्स्टाइन ने इस सिद्धान्त को बतलाया तो हम आँख बन्द करके नहीं मान रहे हैं। उसका प्रयोग करके देखने पर सत्य सिद्ध होता है, इसलिये मान रहे हैं। आचार्य शंकर कहते हैं कि इसी प्रकार श्रुति की बात हम इसलिये मानते हैं क्योंकि वह अनुभव और युक्ति की कसौटी पर खरी उतरती है। इसलिये नहीं मानते हैं कि वहाँ कुछ कह दिया गया है। एक जगह भाष्य में लिखते हुए वे कहते हैं—'सैकड़ों वेद भी यदि कह दें कि आग ठण्डी होती है तो आग ठण्डी नहीं हो सकती।' शास्त्र तो ज्ञापक है। हमको बतलाना है कि सच्ची बात यह है और उसको प्रयोग एवं युक्ति से सिद्ध करके जीवन में लाना है। अतः पहला साधन उन्होंने बतलाया—विवेक, बुद्धिपूर्वक विचार।

जब बुद्धिपूर्वक विचार हमारा दृढ हो जाये और समझ लें कि गलत क्या है, तब अगला सोपान है—वैराग्य। गलत चीज को गलत समझते ही छोड़ने का समर्थ्य अपने अन्दर पैदा होना चाहिये। अभी बहुत-सी बातों में अकेले में हम कहते हैं, 'हाँ, है तो यह गलत, लेकिन रीति-रिवाज चला आया है, मान लेना चाहिये, क्या हर्ज है?' कई विषयों में हम किसी बहाने से उसे ही स्वीकारते चलते, हैं जिसे मानते तो गलत हैं। जिस चीज को हम सत्य मानें, उसके ऊपर स्थिर रहने का साहस होना चाहिये। हो सकता है कि हमने जो चीज समझी है, वह गलत है परन्तु जब तक हम उसको ठीक समझ रहे हैं तब तक तो हमें उसके ऊपर स्थिर रहना पड़ेगा। जिस चीज को गलत समझा, उसको छोड़ने का साहस, यह दूसरा साधन वैराग्य है।

तब मन के अन्दर शान्ति, इन्द्रियों का दमन, विषयों के प्रति उपरामता, चित्त की एकाग्रता और वास्तविक श्रद्धा उत्पन्न होती है। श्रद्धा का मतलब केवल चीज को मान लेना नहीं। जिसको ठीक समझा है, उसके अनुसार जीवन को ढालने में लग जायें, तभी कह सकते हैं कि उस पर श्रद्धा है। हम छोटी-छोटी चीजों को ढालने में लगे हैं परन्तु यह दुर्लभ जीवन हमें मिला है, उसको ढालना है। जब इस प्रकार की श्रद्धा हमारे अन्दर पैदा हो जाती है तब अन्त में परमात्मा के प्रति तीव्र अभिलाषा आती है कि 'मुझे परमात्मा की प्राप्ति चाहिये, और कुछ

नहीं'। तब अन्य जितने साधन हैं, उनको मनुष्य छोड़ता चला जाता है। अभी तो हम न जाने किस-किस चीज को साधन समझते हैं! कहीं हम समझते हैं कि ग्रह हमारी मदद कर देंगे। कहीं हम समझते हैं कि काल हमारी मदद कर देगा। कहीं पर लोग तरह-तरह की तावीजें, तरह-तरह के तान्त्रिक प्रयोग कर सोचते हैं कि उनसे कुछ हो जायेगा। आचार्य शंकर कहते हैं कि यह सब तुम्हारा भ्रम है। **'देवभ्रान्त्या भजति भवदन्यं जडजनः'**। जिस प्रकार कोई आदमी सीप को चाँदी समझ बैठता है, उसी प्रकार परमेश्वर को छोड़कर दूसरी चीजों को समझ लेता है कि ये हमारे साधन होंगे और हमें मदद पहुँचा देंगे। इसलिये रोज-रोज नये-नये देवता भारतवर्ष में उत्पन्न हो रहे हैं। नये-नये भगवान् उत्पन्न हो रहे हैं। पता नहीं कौन हमारी मदद कर देवे, किससे हमको सहायता मिल जाये। जिस भूतप्रेत की पूजा का गीता में भगवान् ने निषेध किया है, उसे मनुष्य के पतन का कारण, नीचे गिराने वाला बताया है, वह भूत-प्रेतों की पूजा चारों तरफ फैलती चली जा रही है। सोचते हैं कि उसी से हमको कुछ प्राप्त हो जायेगा। जैसे कोई आटे के घोल को समझ लेवे कि यह दूध है, उसी प्रकार मनुष्य को भ्रान्ति होती है। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा को छोड़कर कोई नहीं है, जो कुछ भी कर सके। इसलिये केवल उसके ऊपर भरोसा करना चाहिये, बाकी जितने साधन हैं, उनको व्यर्थ जानना चाहिये। जब-जब किसी संस्कृति ने परमात्मा को, अपनी आत्मशक्ति को छोड़ कर ग्रह-नक्षत्रादि अन्य सहारों को प्रधानता दी है, तब-तब उसका पतन हुआ है। यह ग्रीस, रोम, मिस्र आदि के इतिहास के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है। अतएव आचार्य ने कहा कि महादेव से अन्य को अपना सहारा मानने वाले सब जड जन हैं। जो रात-दिन हमारे मन को देख रहा है, मन का साक्षी है, वही देवाधिदेव महादेव है। उस साक्षी की शरण लें, उसकी सहायता से कार्य करें तो कोई कार्य ऐसा नहीं जो न कर सकें। जीव के अन्दर परमात्मा स्थित है। जैसे-जैसे हम अपने व्यष्टिभाव को छोड़कर समष्टि भाव की तरफ जायेंगे, वैसे-वैसे यह शक्ति विकसित होती जायेगी और इस शक्ति के विकास से ही देश, धर्म— सभी का उद्धार सम्भव है।

वेदान्त : सर्वसुलभ मार्ग

आचार्य श्रीशंकर ने स्वयं अद्वैत में निष्ठा पायी इतना ही नहीं, उन्होंने अनेक ऐसे शिष्य तैयार लिये, जो विद्वत्ता में और आत्मानुभव की स्थिति में अत्यन्त प्रौढ थे। आचार्य की दृढता उनके सच्छिष्यों में भी अविकल थी। पूर्व में कर्म-काण्ड पर ही श्रद्धा रखने वाले मण्डन मिश्र को जब आचार्य शंकर का सत्संग मिला तब उन्हें वास्तविकता समझ आ गयी और पूर्वाग्रह का सर्वथा त्याग कर वे आचार्य के शिष्य बन गये। उन्होंने मण्डन मिश्र को संन्यास देकर सुरेश्वराचार्य बनाया था। ऐसे ही सनन्दन को संन्यास देकर विशेष कारणवशात् पद्मपादाचार्य नाम से प्रसिद्ध किया था। सब शिष्यों को साथ लेकर भारत के कोने-कोने में अद्वैत-ध्वज फहराते हुए आचार्य शंकर ने भारत-भ्रमण किया। तत्त्वप्रतिपादन के साथ ही उन्होंने उपनिषद् के सिद्धान्त का ऐसा प्रचार किया कि भारत के सर्वथा अशिक्षित लोगों में भी अद्वैत प्रसिद्ध हो गया। 'आत्मा सो परमात्मा', 'संसार केवल माया है' आदि मान्यता आज समग्र भारत में उपलब्ध है। अनुभव न होने पर भी इस सिद्धान्त को जानते सब हैं। इसका एकमात्र कारण है कि आचार्य शंकर ने व उनकी शिष्यावली ने इस सत्य का परिश्रमपूर्वक प्रचार किया।

एक बार वे वेदान्त प्रचार करते हुए मध्यार्जुन पहुँचे। वहाँ पर बहुत से लोग विचार करने के लिये आये। वे सारे लोग द्वैत मत को मानने वाले थे। आचार्य शंकर ने भली प्रकार उनके सन्देहों को दूर किया। अन्त में वे लोग सब मिलकर आये और कहने लगे कि आपकी युक्तियों का तो हमारे पास जवाब नहीं है, परन्तु हम यहाँ भगवान् मध्यार्जुनेश्वर को हमेशा पूज्य दृष्टि से देखते हैं। यदि यह कह देवें कि अद्वैत सत्य है तो हम मान लेंगे। आचार्य शंकर ने कहा कि आज शाम को जब आरती समाप्त हो जायेगी तब आप सब लोग आइयेगा। सभी लोग वहाँ उस समय आये। आचार्य शंकर ने वहाँ भगवान् शंकर की, मध्या-र्जुनेश्वर की स्तुति की और स्तुति करके कहा कि ये लोग आपके भक्त हैं, और चाहते हैं कि आप ही अन्तिम निर्णय देवें, तो इनकी अद्वैत में निष्ठा हो जाये। भगवान् के विग्रह से हाथ निकला और तीन बार कहा 'अद्वैतमेव सत्यम्'। वहाँ जितने लोग थे, सबको दो बातों का दृढ निश्चय हो गया। पहली बात तो उन्हें

'वह भगवद्विग्रह है' यह साक्षात् मालूम पड़ गया। अब तक वे मध्यार्जुनेश्वर का पूजन जरूर करते थे और मानते थे कि यह भागवत विग्रह है परन्तु अब तक कभी भी प्रत्यक्ष उन्हें बोलते नहीं सुना था, अथवा उस लिंग के अन्दर किसी प्रकार के हिलते-डुलते अवयवों का दर्शन उन्होंने नहीं किया था। आज जब उन्होंने हाथ निकलते देखा और उसमें से ध्वनि सुनी तो उनको यह दृढ़ निश्चय हो गया कि यह भगवान् का ही विग्रह है। दूसरी बात यह भी निश्चय हो गया कि चरम सत्य तो 'अद्वैत' ही है।

आचार्य शंकर जिस-जिस जगह गये वहाँ सर्वत्र उन्होंने भगवान् की स्तुतियाँ की लेकिन प्रत्येक स्तुति के अन्दर जो परमात्मा का अद्वितीय स्वरूप है, उसका निरूपण भी साथ-साथ करते रहे क्योंकि वे जानते थे कि वह परब्रह्म परमात्मतत्त्व ही हम लोगों के ध्यान करने के लिये एक विशिष्ट विग्रह के अन्दर अपनी शक्ति को प्रस्फुटित करता है। इसलिये यदि उसकी प्रार्थना इत्यादि यह जानते हुए की जाये कि वास्तविक तत्त्व क्या है, तब तो वह फल उत्पन्न करता है, और यदि वास्तविक चीज को हम नहीं जानते तो उस भागवत विग्रह में सामर्थ्य होने पर भी प्रकट नहीं होता। स्वयं अपने शरीर के अन्दर भी वही परमात्मतत्त्व बैठा हुआ है। चूँकि हम उस तत्त्व को सच्चिदानन्द रूप से नहीं जान रहे हैं, इसलिये हमारी शक्ति भी प्रकट नहीं होती।

आचार्य शंकर एक बार किसी गाँव से निकले। उस गांव में एक बच्चे की उसी समय मृत्यु हुई थी। छोटा बच्चा था, वे लोग उठाकर ले आये और आचार्य शंकर के चरणों में डाल दिया। कहने लगे, 'भगवन्! आप कृपा करें तो यह बच्चा ठीक हो जाये।' पहले तो आचार्य शंकर ने उनको समझाया कि जन्म-मृत्यु कर्मानुसार होते रहते हैं, इनके विषय में कुछ नहीं किया जा सकता। परन्तु वे लोग करुण क्रन्दन करने लगे। बड़े ही करुण रूप से रोने लगे। उनके उस क्रन्दन को सुनकर आचार्य शंकर के हृदय में करुणा का आविर्भाव हुआ और संकल्प हुआ 'जो सर्वव्यापक आत्म-तत्त्व है, वह इसके अन्दर पुनः अन्तःकरण के द्वारा प्रस्फुटित हो जाये, खिल जाये।' सत्यसंकल्प वे थे ही। बच्चा रोने लग गया। माता-पिता बड़े ही प्रसन्न हुए। गाँव में सब लोग आश्चर्यचकित हो गये। जैसे मध्यार्जुन में बाह्य देवविग्रह में उन्होंने परमात्मशक्ति को प्रकट किया, वैसे

ही यहाँ पर स्वयं अपने अन्दर रहने वाली जो परमात्मशक्ति थी, उसको उन्होंने उद्बुद्ध किया ।

चाहे बाह्य देव का पूजन करें, चाहे अपने आन्तरिक देव का पूजन करें, उसकी शक्ति तो तभी खिल पायेगी, जब उसका उस अद्वितीय आत्मतत्त्व के साथ ऐक्य समझकर हम पूजन करेंगे । यद्यपि बाह्य विग्रह के अन्दर भी यह दृष्टि ही बनने से यह सफल हो सकता है, परन्तु उसमें और आत्ममूर्ति में कुछ अन्तर है । बाह्य मूर्ति के अन्दर पहले हमको चेतनता की प्रतीति होती नहीं, चेतनता हमको आरोपित करनी पड़ती है, माननी पड़ती है । बाह्य मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा किसी व्यक्ति द्वारा की जाती है, किन्तु अपने शरीर में प्राणप्रतिष्ठा स्वयं परमेश्वर ने की है । हमारे हृदय के अन्दर प्रस्फुटित होने वाला जो अहं-तत्त्व है, उसकी प्राण-प्रतिष्ठा किसी दूसरे ने नहीं की है, बल्कि साक्षात् परमेश्वर ने की है । इसलिये इस अहं-प्रत्यय के अन्दर ध्यान करने से वह परमात्मा अत्यन्त शीघ्र कृपा करता है । बार-बार इसके ध्यान करने का तरीका यही है कि 'जो-जो वृत्ति बनती जाती है, जिस-जिस को मैं जानता जाता हूँ, वह मुझ से भिन्न है और मैं जानने वाला भिन्न हूँ । मैं इसका साक्षी हूँ ।' इसको जितना-जितना स्थिर करते जाते हैं, उतनी ही उतनी अपनी शक्ति बढ़ती चली जाती है ।

अभी हम समझ रहे हैं कि हम जीव अलग हैं, और इस संसार को चलाने वाला परमेश्वर अलग है । ज्ञान होने पर हमको पता लगता है कि जो सारे संसार को चलाने वाला परमेश्वर है, वही मेरे अन्दर जीवभाव से भी शरीर को चला रहा है, वही इसको प्रवृत्त करने वाला है । जैसे-जैसे यह निश्चय बढ़ता चला जाता है, वैसे-वैसे मनुष्य के अन्दर अज्ञान की निवृत्ति होती जाती है । इस अज्ञान को नष्ट करना है । ऐसा नहीं समझ लेना कि किसी दिन अकस्मात् अज्ञान से ज्ञान हो जाता है । आचार्य शंकर लिखते हैं कि भोजन से तृप्ति की तरह ज्ञानलाभ है । ऐसा नहीं होता है कि चार रोटी की भूख है तो चौथी रोटी जब तक नहीं खायी, तब तक बिलकुल भूख नहीं मिटी और चौथी रोटी का अन्तिम कौर खाते ही अकस्मात् भूख मिट गयी । होता क्या है ? जैसे-जैसे एक-एक कौर खाते जाते हैं, वैसे-वैसे उतनी भूख मिटती जाती है । इसी प्रकार से अन्य कर्मों के अन्दर तो यह होता है कि तुमने पूरा कर्म किया तब फल उत्पन्न होगा । यदि तुम किसी

शतचण्डी के संकल्प को लेकर बैठे और बीस चण्डी की आहुतियाँ हो गई और तुम्हारा यज्ञ बीच में खण्डित हो गया तो तुमको बीस प्रतिशत पुण्य नहीं होगा। इसने सौ का संकल्प किया और बीस कर लिया तो बीस का फल हो जाये, ऐसा नहीं होगा। शतचण्डी पूरी करोगे तो फल होगा, और बीच में रह गई, निन्यानबे भी हो गई तो फल नहीं होगा। परन्तु यहाँ यह बात नहीं है। भगवान् ने भी इसीलिये कहा कि यह ऐसा मार्ग है जहां **'प्रत्यवायो न विद्यते'** परमात्मा के मार्ग में कोई प्रत्यवाय नहीं। जितना करते चले जायेगें उतना ही उतना यह खिलता चला जायेगा, शोक-मोह न्यून-न्यूनतर होते चले जायेंगे। अन्ततोगत्वा आत्यन्तिक निवृत्ति हो जायेगी, सर्वथा निवृत्ति हो जायेगी। **'तरति शोकमात्मवित्'** पूर्ण रूप से निवृत्ति तो तभी होगी जब परमात्मा का अप्रतिबद्ध साक्षात्कार होगा। लेकिन जैसे भोजन से थोड़ी-थोड़ी तृप्ति हो जाती है वैसेही जैसे-जैसे परमात्मज्ञान दृढ होता जायेगा वैसे-वैसे शोकादि निवृत्त होते जायेंगे। इसलिये इस साधन को करने में निरंतर प्रवृत्त रहना चाहिये।

पहले बतलाया था कि नर बनना चाहिये, अर्थात् विषयों के अन्दर रत रहने से अपने को हटाना और उस रति का परमात्मा में लगाना चाहिये। परमात्मा के मिलने की जगह सीधा अपना हृदय है, यद्यपि परमात्मा सर्वव्यापक है। हृदय को परमात्मा के समर्पण करने से उसकी प्राप्ति स्वतः होती है। समर्पण करने का तरीका यही है—जो कोई भी वृत्ति है, उसका मैं द्रष्टा हूँ, इसके प्रति जागरूक रहना। उस वृत्ति की तरफ ध्यान मत दो। अपने साक्षिरूप पर ध्यान दो। सबको करने के लिये यही मार्ग आचार्य शंकर ने बतलाया। कर्ममार्ग बड़ा गहन मार्ग है, जटिल मार्ग है। बड़े-बड़े जटिल कर्म करना आज के युग में असम्भव नहीं तो असम्भवप्राय है। कोई यज्ञ आदि करने जायें तो शुद्ध घी मिलना मुश्किल और गाय का घी मिलना और मुश्किल। जितने भी अन्य कर्म हैं, उनके लिये सारी शुद्ध सामग्रियाँ एकत्रित करना बहुत मुश्किल है। क्योंकि आजकल हर चीज के अन्दर अशुद्धियाँ हैं, शुद्ध चीज मिलेगी कहाँ से ? इसी प्रकार से जितने भी पर्यावरण आदि हैं, ये सब ऐसे होते जा रहे हैं कि हमारे लिये यह सब करना अत्यन्त कठिन है। आज ही कठिन हो ऐसा नहीं, काफी पहले से ही यह परिस्थिति आने लग गयी थी। इसलिये आचार्य अप्पय दीक्षित आज से पाँच सौ वर्ष पूर्व कहते हैं —

'नाहं बोद्धुं तव शिवपदं न क्रियां योगचर्यां कर्तुं शक्नोमि'

भिन्न-भिन्न प्रकार की पूजाएँ, योगाभ्यास आदि करना बड़ा ही कठिन होता जा रहा है। लेकिन इस कलियुग में भी अपने साक्षिभाव पर दृढ रहने में कोई रुकावट नहीं। इसके लिये कोई बाह्य साधन की ज़रूरत नहीं। यह बड़ा सरल मार्ग आचार्य शंकर ने हमारे लिये खोला है। इस पर चलते हुए सभी कल्याण के भागी बनें, यही उमारमण रमारमण से प्रार्थना है।

उज्जयिनी कुम्भमहापर्व के अवसर पर
मेहता चैरिटेबल प्रज्ञालय ट्रस्ट, दिल्ली द्वारा
निःशुल्क वितरणार्थ प्रकाशित सं. २०४९

मुद्रक :
तारा प्रिंटिंग वर्क्स
वाराणसी